सिनेमा पर हास्य व्यंग्य

साहब बाथरूम में हैं

आश करण अटल

सिनेमा के
शताब्दी वर्ष पर
हास्य-व्यंग्य की
अनूठी पुस्तक

साहब बाथरूम में हैं

(सिनेमा पर हास्य व्यंग्य)

eISBN: 978-93-5261-842-2

प्रकाशक डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा.) लि.

X-30 ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-II

नई दिल्ली- 110020

फोन : 011-40712100

ई-मेल : ebooks@dpb.in

वेबसाइट : www.diamondbook.in

संस्करण : 2013

Saheb Bathroom Mein hain

By - *Aash Karan Atal*

पढ़ने से पहले

कुछ बनने के बाद लोग आत्मकथा लिखते हैं। मैं जो बनना चाहता था वह तो बन नहीं पाया। सो आत्मकथा तो लिख नहीं सकता, लिख भी ली तो पढ़ेगा कौन। इस पुस्तक का पहला भाग 'मेरा सफर' में कुछ बनने की यात्रा के दौरान घटी मनोरंजक और मार्मिक घटनाएं आपसे शेयर कर रहा हूँ। पढ़े तो ठीक, न पढ़ें तो भी चलेगा।

–आश करण अटल

यह किताब

स्व. पिता लक्ष्मीदान जी को समर्पित है जिन्होंने एक स्थानीय अखबार का वह अंक, जिसमें मेरी पहली सचित्र कविता छपी थी, तब तक बड़े चाव से सहेज कर अपने पास रखा जब तक मेरे गांव वासियों और आस-पास के सभी जानने वालों ने उसे कम से कम एक बार देख नहीं लिया और अंततः फट-फटा नहीं गया।

एक मिनट सर!

काफी समय से हमारी फिल्मों के कथानक में एक ठहराव सा आ गया है। पानी हो या कथानक, ठहराव उसे गंदला कर देता है। कोई विदेशी हमारी फिल्में देखे तो यही सोचेगा कि भारत में या तो प्रेमी बसते हैं या गुंडे। दिन भर की विज्ञापन फिल्मों का कुल निचोड़ है, हमारे बालों में डेंड्रफ और दांतों में कीटाणु पड़े हैं, कपड़ों पर मैल जमा हुआ है, पसीना बदबू मार रहा है, इसलिये हमें फलां-फलां कोल्ड ड्रिंक पीना चाहिये। इतना रिपीटीशन? इतना ठहराव? हमारे छोटे और बड़े दोनों पर्दों पर?

यह पुस्तक सिनेमा की समूची दुनिया का संपूर्ण ताना-बाना है। मैंने कहीं से भी कुछ भी नहीं छोड़ा है। इस जादू नगरी के अंधेरे कोनों से लेकर भव्य-दिव्य कोटरों से गुजरा हूं।

सिनेमा रूपी झील के पानी में तरंगें पैदा करने की मंशा से ये व्यंग्य भरे कंकड़ बहुत विनम्रता से फेंक रहा हूं। अगर एक-आध तरंग पैदा कर पाया तो यह भारतीय सिनेमा के सौवें वर्ष में, सिनेमा के जनक दादा साहेब फाल्के को मेरी ओर से श्रद्धांजलि होगी।

– आश करण अटल

बाथरूम से बाहर आइये साहब.......

कहानीकार से मिलिये। सितारों के पीछे बहुत भाग लिये। थोड़ा समय कहानी के लिये निकालिये। देश का ऐसा कोई हिस्सा नहीं जहां चौंकाने वाली, दहलाने वाली, लुभाने वाली, बहलाने वाली कहानियां न हों। ऐसी कहानियां, जहां सच्चाई किसी कल्पना से ज्यादा आश्चर्य उत्पन्न करे और ऐसी काल्पनिक कथाएं, जो हजारों सालों से इस जमीन के इतिहास के साथ बहती आ रही हैं, फिर क्यों हमारा सिनेमा कुछ ही कथाओं पर आकर रुक गया, सिमट गया ?

पाठक इसे आलोचना न समझें, इसे फिल्मों का यथार्थ समझें, फिल्मों की संभावना समझें। भविष्य में यदि फिल्मों को तत्कालीन समाज का आईना माना गया तो हमारे वर्तमान समाज के बारे में लोग क्या निष्कर्ष निकालेंगे ?

ऐसा ही हिन्दी फिल्मों का लेखा-जोखा आश करण अटल ने लिखा है। सिनेमा पर टिप्पणियां पढ़ते-पढ़ते बार-बार हंसी आती है, पर इसका उद्देश्य उपहास करना नहीं है। हमारा सिनेमा कथाविहीन, चरित्र कितने कृत्रिम, फिल्मकार कितना असहाय, दर्शक कितना बेबस है, यह आश करण अटल की लेखनी रेखांकित करती चलती है।

आश करण अटल एक-एक कर सिनेमा के तथाकथित प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष स्तंभों की कलई खोलते चलते हैं। इस आशा से कि शायद समाज को उसकी सूरत दिखाने का दावा करने वाले फिल्मकार अपनी सामर्थ्य और दिवालियापन दोनों देख सकें। आश करण अटल की ये टिप्पणियां दादा साहेब फाल्के के उन उत्तराधिकारी सृजन शिल्पियों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध होंगी, जो भविष्य के सिनेमा की नींव रखने जा रहे हैं।

–डॉ. चन्द्र प्रकाश द्विवेदी
लेखक, निर्देशक, अभिनेता

अनुक्रम

पहला भाग - मेरा सफ़र

सिनेमा का चस्का

ए 'राजकपूत' घर चलो

धर्मेंद्र : बड़े भैय्या

बम्बई नगरिया में पहली बार

ए मेरे प्यारे वतन

रसगुल्लों का डिनर

बाहर जाती बॉल खेल गया

आशा भोंसले जी के घर डिनर

ओशो का आशीर्वाद

स्टोरी ले लो ! ...... स्टोरी वाले !!

साहब बाथरूम में हैं

कवि सम्मेलनों की ओर

मुझे डायरेक्टर बनना पड़ा

मुंबई में अपना घर

पापा, इस साल मेरा नाम क्या रखोगे ?

रूस यात्रा पर माँ की प्रतिक्रिया

जीसा मैं भी अमरीका चलूँगा

नौ दिन चले अढ़ाई कोस

दूसरा भाग-सिनेमा का सफ़र

स्थायी पात्र

नायिका भेद

नायक भेद

पहला भाग

मेरा सफ़र

सिनेमा का चस्का

मेरा फिल्मी सफर तब शुरू हुआ जब मैंने सातवीं क्लास में पहली फिल्म देखी। फिल्म का नाम था कोहीनूर। दिलीप कुमार और मीना कुमारी की वह फिल्म जोधपुर के ओलंपिक सिनेमा में लगी थी। पहली फिल्म से ही सिनेमा का ऐसा चस्का लगा कि फिर पढ़ाई में कभी मन नहीं लगा। मैं हमेशा क्लास में फर्स्ट आता था। मगर उसके बाद कभी फर्स्ट नहीं आया। मैं कभी फेल नहीं हुआ था। मगर आगे जाकर फेल भी हुआ।

हमारे जमाने में पॉकेटमनी का रिवाज नहीं था। फीस या किताबों के नाम पर बाप से झूठ बोल कर जितना ऐंठ सकते थे, वही पॉकेटमनी होती थी। उससे पहले मैंने पिताजी से कभी झूठ नहीं बोला था मगर उसके बाद पैसों के लिये खूब झूठ बोला और खूब फिल्में देखीं।

उन दिनों शिक्षा का यह हाल था कि हमारे इलाके में मुझसे पहले सिर्फ एक युवक ने दसवीं पास की थी। मेरे पिताजी मुझे हर हाल में पढ़ाना चाहते थे। मुझे पढ़ाने के लिये उन्होंने बहुत संघर्ष किया।

मेरे स्व. पिता लक्ष्मीदान जी जमींदार थे, जमींदार वैसे नहीं जैसे फिल्मों में दिखाते हैं। वे ऐसे जमींदार थे जिनके पास होने को तो बारह सौ बीघा जमीन थी मगर दो साल लगातार अकाल पड़ने पर हालत साधारण किसान से भी बदतर हो जाती थी। किसान तो मजदूरी भी कर सकता है मगर जमींदार मजदूरी नहीं कर सकता।

लगातार दो अकाल पड़ चुके थे। पिताजी बमुश्किल मेरी पढ़ाई का खर्च जुटा पा रहे थे। सातवीं कक्षा में उन्होंने मुझे जोधपुर में गांधी स्कूल में भरती करा दिया और दो रुपये महीना भाड़े पर एक कमरा लेकर दे दिया। राशन समय पर गांव से आ जाता था। भविष्य की राह स्पष्ट थी - 'अपने हाथ से खाना पकाओ। खाओ, पढ़ो और खूब तरक्की करो।' कैसी पढ़ाई और कौन-सी तरक्की ? मैं या तो फिल्में देखता या फिल्में देखने के लिये पैसों के जुगाड़ में रहता।

ओलंपिक सिनेमा मेरे स्कूल के बगल में था। सिनेमा का गेटकीपर कभी दिख जाता था तो मैं सोचता था - ''ये आदमी कितना भाग्यशाली है - जब चाहे तब सिनेमा देख सकता है।''

ऐ 'राजकपूत' अब घर चलो !

युवा कवि आश करण अटल

एक दिन पिताजी की गलती से मेरा भी भाग्य खुल गया। उन्होंने छमाही फीस के रुपये स्कूल में जमा करने के बजाय मुझे दे दिये। जोधपुर में सात सिनेमा हॉल थे। ओलंपिक में कॉमेडियन महमूद की फिल्म ससुराल लगी थी। उनकी कॉमेडी में गजब का आकर्षण था। अपने आप को रोकना मुश्किल था, इसलिये रोकने की कोशिश भी नहीं की। क्लास टीचर की फीस जमा कराने की आखिरी वॉर्निंग भी फुस्स हो गयी। मैंने ससुराल फिल्म देख ली। फीस की रकम में आठ आने कम हो गये।

चूंकि आठ आने कम थे इसलिये फीस भरना तो संभव था नहीं। सो मजबूरी में एक और फिल्म देख ली। इस तरह एक-एक कर सारी फिल्में देखने में सफल रहा मगर स्कूल से नाम कट गया।

कुछ दिन बाद ही पिताजी के सामने मेरा भांडा फूट गया और मेरा सिनेमा प्रेम जग जाहिर हो गया। उन्होंने मुझे ना मारा ना डांटा, उदास होकर बस इतना ही कहा - ''ऐ राजकपूत (राजकपूर नाम की पैरोडी) हो गयी पढ़ाई! अब घर चलो।'' वे मुझे गांव ले आये।

चूंकि मेरी शिक्षा का सपना मैंने नहीं, मेरे पिताजी ने देखा था। सो दो दिन बाद वे खुद ही नरम पड़ गये। मुझसे एक दो वादे लिये और मुझे फिर से उसी स्कूल में भरती करा दिया।

दूध के जले पिताजी ने आठवीं कक्षा में छाछ भी फूंक कर पी। उन्होंने मुझे जोधपुर से पन्द्रह किलोमीटर दूर स्थित बोरानाडा में भर्ती करा दिया। यहाँ भी मुझे अपने हाथ से खाना बनाकर

खाना पड़ता था। उनकी सावधानी काम आई। वह साल बिना किसी उपद्रव के बीत गया।

मगर नवमी में फिर सिनेमा वाले शहर जोधपुर में भर्ती होना पड़ा क्योंकि बोरानाडा में मिडिल स्कूल ही था। इस साल फसल ठीक हुई थी इसलिये पिताजी ने मुझे हॉस्टल में रखा।

हॉस्टल में रहने से मुझे दो फायदे हुए, एक तो हाथ से खाना बनाने से मुक्ति मिल गयी, दूसरा शहर के किसी भी सिनेमा में फिल्म देखने का जुगाड़ जम गया। जो लोग हॉस्टल कल्चर से अनजान हैं उनको मैं बता दूं कि हॉस्टल का छात्र टिकट लेकर नहीं, हॉकी लेकर फिल्म देखने जाता है। मैं हॉस्टल के उन सीनियर्स को सलाम करता हूँ जिन्होंने ये परंपरा डाली। मैं शुरू-शुरू में सीनियर्स की छत्र छाया में सिनेमा जाता था, बाद में अपने पांवों पर खड़ा हो गया।

हॉस्टल में मुझे पढ़ने-लिखने का शौक लग गया। कुछ लेखकों के अलावा मैंने अमृता प्रीतम को पूरा पढ़ा। मैं अमृता जी के नये उपन्यास की ऐसे प्रतीक्षा करता था जैसे दर्शक अपने प्रिय अभिनेता की फिल्म की प्रतीक्षा करता है।

उसी दौरान 'छोटा भाई', 'उस पार' 'सौतेली मां', 'चलो बॉम्बे', और 'अधूरा ताजमहल' शीर्षक से पाँच लम्बी कहानियां और कुछ कविताएं लिखीं। उनमें से एक कहानी- 'बिमल रॉय कहानी प्रतियोगिता' में भी भेजी थी।

उन दिनों के. आसिक अपनी एक फिल्म की शूटिंग के लिये जोधपुर आये थे। वे उम्मेद भवन में ठहरे थे। मैं अपने हॉस्टल वाले कल्चर के सहारे उन तक पहुंच गया। वे बहुत प्यार से मिले और बोले कि ''बॉम्बे आयें तो मिलें। मैं आपकी कहानियाँ जरूर सुनूंगा।''

धर्मेंद्र: बड़े भैय्या

जोधपुर के आनंद सिनेमा में अभिनेता धर्मेन्द्र की पहली फिल्म 'दिल भी तेरा हम भी तेरे' लगी थी। मैं फिल्म देखने गया और जैसे ही धर्मेन्द्र स्क्रीन पर आये मेरे मुंह से निकला, ''अरे ये तो गंगा भाबा जैसे दिखते हैं।'' मेरे एक बड़े भाई थे-गंगा दान। मैं उन्हें गंगा भाबा कहता था। पन्द्रह साल की किशोर उम्र में किसी बीमारी में वे चल बसे। दुबले-पतले धर्मेन्द्र की नाक और आंखें हूबहू गंगा भाबा जैसी थीं। मैंने हॉस्टल पहुंच कर धर्मेन्द्र को 'बड़े भैय्या' के संबोधन से संबोधित करते हुए पत्र लिखा। यह मेरी पहली फैन मेल थी।

अंतत: एक दिन मैंने दसवीं पास कर ली। मेरे पिताजी का सपना पूरा हो गया। यह उस जमाने में हर पिता का मनचाहा पड़ाव होता था कि बेटा कम से कम दसवीं पास कर ले ताकि किसी ऑफिस में नौकरी लग सके और नौकरी लगते ही शादी हो सके।

दसवीं पास करते ही इलेक्ट्रीसिटी बोर्ड में क्लर्क की नौकरी लग गयी और नौकरी लगते ही मेरी शादी करायी गयी। मैं दोनों कामों के लिये तैयार नहीं था, क्योंकि मेरी मंजिल बॉम्बे थी। चूंकि बॉम्बे कब जाऊंगा और कहाँ रहूंगा इस बारे में कुछ भी साफ नहीं था इसलिये जो हो रहा था, उसे होने दिया। नौकरी भी चलताऊ ढंग से करता रहा, यह सोचकर कि नौकरी कौन-सी जिन्दगी भर करनी है। एक न एक दिन तो बॉम्बे जाकर फिल्म-लेखक बनना है।

बम्बई नगरिया में पहली बार

एक दिन पता चला कि मेरे एक दोस्त रमेश व्यास के पास बम्बई में भुलेश्वर रोड स्थित बड़ा जगदीश मंदिर में रहने का ठिकाना है जहां मैं कुछ दिन ठहर सकता हूँ।

मैंने तुरंत बम्बई का टिकट खरीदा और ऑफिस में दो हफ्ते की छुट्टी की अर्जी दे दी। एक दोस्त से पांच सौ रुपये मांगे तो उसने कहा कि जिस दिन जाओगे, ट्रेन पर आकर दे जाऊंगा। दोस्त का आश्वासन पाकर मैंने अपने पास जमा पैसों से शॉपिंग कर ली।

निश्चित दिन मैं स्टेशन पहुंचा। ट्रेन का टाइम हो गया मगर दोस्त पैसे लेकर नहीं आया। बम्बई की पहली यात्रा कैंसल करना बहुत बड़ी हार होती, सो मैं ट्रेन में चढ़ गया। जब बम्बई सेन्ट्रल उतरा तब मेरी जेब में बारह रुपये थे।

जवानी कैसे-कैसे जोखिम भरे फैसले चुटकियों में ले सकती है। आज भी उस घटना के बारे में सोचता हूँ तो आनंद बख्शी की वह पंक्तियां याद आती हैं - 'जवानी ओ दीवानी तू जिन्दाबाद।'

खैर बाद में रुपयों का बंदोबस्त भी हो गया और दो हफ्ते तक बम्बई में रहा-घूमा।

बम्बई आने वाले लोग सबसे पहले चौपाटी और गेट वे ऑफ इंडिया जाते हैं। मैं सबसे पहले फेमस स्टूडियो गया। मोहन सहगल, ओ. पी. रल्हन, देवेन्द्र गोयल, सुल्तान अहमद, शेख मुख्त्यार आदि बड़े नाम जो पर्दे पर पढ़े थे, उन बड़ी हस्तियों के ऑफिस के आगे से निकला तो बहुत रोमांचित हुआ। किसी एयर कंडीशन ऑफिस का दरवाजा खुलता तो एक सुगंध का भभका निकलता। वह सुगंध मुझे अब भी याद है। नीचे उतरा तो देखा दिलीप कुमार अपनी कार के पास खड़े हैं। अभिनय सम्राट को इतने पास से देखकर तबियत बाग-बाग हो गयी।

वहाँ से मैं अंधेरी ईस्ट में के. आसिफ स्टूडियो गया। वे स्टूडियो में नहीं थे। उनका स्टूडियो बहुत बुरी हालत में था। कहाँ मुग़ले आज़म की भव्यता और कहाँ उनका स्टूडियो। देखकर बड़ा दुख हुआ।

अगले दिन सुबह उठकर 'बड़े भैय्या' धर्मेन्द्र से मिलने बांद्रा में वुडलैंड अपार्टमेंट गया। वॉचमैन से पता चला वे शूटिंग के लिये निकल गये। मैं वहीं खड़ा रहा। तभी स्कूल यूनीफॉर्म में एक आठ-दस साल का लड़का अपने छोटे भाई का हाथ पकड़े दिखा। वॉचमैन ने बताया ये दोनों धरमजी के लड़के हैं। वे सनी और बॉबी थे। मैं खुश हुआ कि चलो 'बड़े भैय्या' ना सही, 'बड़े भैय्या' के बच्चों को देख लिया।

भुलेश्वर रोड से फेमस स्टूडियो ज़्यादा दूर नहीं था। मैं लगभग रोज वहाँ जाता था। एक-दो निर्माताओं को कहानियां भी सुनाईं। श्याम रल्हन ने 'उस पार' कहानी को सुनकर बुरा-सा मुंह बनाया और कहा - "ये तो साधारण कहानी है। ऐसी कहानियां तो मैं दिन में दस लिख सकता हूँ।'' कई साल बाद पता चला वे हर स्टोरी राइटर से यही कहते थे।

बम्बई से वापस रवाना होने से तीन दिन पहले खार पश्चिम में गीतकार शैलेन्द्र जी से मिलने उनके बंगले पर गया, स्लिप भेजते ही मुझे अंदर बुला लिया। वे कुछ लोगों के साथ बैठे थे। मैंने कहानी सुनाने का आग्रह किया तो बोले - ''आप कहानी दे जाइये। मैं पढ़ लूंगा। दो दिन बाद आकर ले जाना।" मैंने 'उस पार' कहानी उनको दे दी।

वापसी की ट्रेन में बैठने से पहले शैलेन्द्र जी के बंगले पर गया। नौकर ने गेट पर ही कहानी लाकर दे दी। उन्होंने पढ़ी या नहीं पढ़ी नौकर ने कुछ नहीं बताया। 14 दिसम्बर 1966 को जोधपुर पहुंचा तो रेडियो पर खबर सुनी 'प्रसिद्ध गीतकार शैलेन्द्र नहीं रहे।' सुनकर एक बारगी तो ऐसा लगा जैसे नियति ने मेरी बम्बई यात्रा शैलेन्द्र जी के प्रथम और अंतिम दर्शन करने के लिये ही आयोजित की थी।

ऐ मेरे प्यारे वतन

मुझे नौकरी करते हुए एक साल से ऊपर हो गया था। मेरी तनख़्वाह सवा दो सौ रुपये थी। अब तक मैंने अपनी कमाई का एक रुपया भी पिताजी को नहीं दिया था। एक दिन उन्होंने बहुत ही आहत मन से कहा–''आशु! एक बार अपनी कमाई के सौ रुपये दे दे बस। उसके बाद मुझे कुछ नहीं चाहिये।''

मैं सपनों पे सवार था। मैंने कहा तो कुछ नहीं, पर मन में सोचा - ''पिता जी सिर्फ सौ रुपये? आप लाखों में खेलेंगे। मुझे कुछ बन जाने तो दीजिये।'' फिर तय किया अगले महीने सौ रुपये जरूर दूंगा। मगर अगले महीने इलेक्ट्रीसिटी बोर्ड की तरफ से कन्सेशन रेट पर होने वाले सालाना बम्बई टूर में दोस्तों ने मेरा नाम लिखा लिया।

इस बार बम्बई के सारे टूरिस्ट स्थल देखे और वापस जोधपुर लौटा तो इस संकल्प के साथ कि अगली बार बम्बई आऊंगा तो यहाँ का निवासी बनकर आऊंगा, टूरिस्ट बनकर नहीं। प्लानिंग पूर्वक कमाना-खर्च करना मेरे स्वभाव में नहीं था। सो पिताजी को सौ रुपये देना पोस्टपोन होता रहा।

साल 1969 के उत्तरार्ध में जोधपुर के फेमस चित्रकार जो कि रंगों के जादूगर हैं, धर्मदास जी को एक्टर प्रोड्यूसर शेख मुख़्तार का, उनकी फिल्म की पोस्टर डिजाइनिंग के लिये निमंत्रण मिला, रहने, खाने-पीने का बंदोबस्त, रेसव्यू गेस्ट हाउस महालक्ष्मी ईस्ट में कर रखा था। मैं धर्मदास जी के साथ अपने सपनों के शहर बम्बई आ गया। मुझे फिल्म इंडस्ट्री बहुत निकट लगने लगी। मगर धर्मदास जी का मन तीन महीने से ज्यादा बम्बई में नहीं लगा। वे वापस जोधपुर आ गये। मैं भी चूंकि पूरी तैयारी के साथ नहीं आया था। सो मैं वापस आ गया।

फिर साल 1971 के पूर्वार्ध में बम्बई आया तो नौकरी से इस्तीफा देकर ही आया। उन दिनों रेलवे कॉलोनी खार ईस्ट में पच्चीस रुपये महीना पेइंग गेस्ट सुविधा आराम से मिल जाती थी। एक कमरे में छह-सात पेइंग गेस्ट रहा करते थे। चुनाव के दिनों में जैसे पार्टी के कार्यकर्ता लाइन से सोते हैं वैसे सोया करते थे। कभी इधर से लात पड़ती थी तो कभी उधर से लात पड़ती थी। मैं तीस रुपये महीना देकर दीवार के पास वाली जगह पर सोता था ताकि एक ही तरफ से लात पड़े।

अगस्त 1971 की 30 तारीख को सुबह से ही मन उदास था, रह-रह कर घर की याद आ रही थी, बार-बार रोने को मन कर रहा था। मेरे रूम पार्टनर गायक रमेश जुले से मैंने काबुलीवाला फिल्म के गीत 'ऐ मेरे प्यारे वतन तुझ पर दिल कुरबान' गाने की फरमाइश की। मेरी फरमाइश पर उन्होंने गाया। मैंने एक बार सुना, फिर दुबारा सुना और याद नहीं कितनी बार सुना। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि यह बेचैनी क्यों है। कारण अगले दिन तब समझा जब भाई का तार मिला–'फादर एक्सपायर्ड कम सून।'

मेरे पिताजी मेरी कमाई के सौ रुपये लिये बिना ही चले गये। जिनको लाखों देने के सपने

देखे थे उनको उनका 'राज कपूत' कंधा भी नहीं दे पाया। मैं पिताजी के देहावसान के चौथे दिन गांव पहुंच पाया, बड़ा बेटा होने के नाते अंतिम क्रिया-कर्म के बचे हुए काम निपटा कर मैं बंबई लौटा आया।

रसगुल्लों का डिनर

आते ही मैं 4 दिसंबर 1971 को फिल्म रायटर्स एसोसिएशन का मेम्बर बना। मेरा मेम्बरशिप नम्बर 573 था।

खार ईस्ट में न्यू आजाद डेरी फॉर्म नाम की एक चाय-नाश्ते की दुकान थी। कुछ दिन तक कैश चाय पीने के बाद कभी-कभार के लिये उधार का रास्ता खुल गया। मेरा मानना है जब तक आदमी को उधार मिलता रहे तब तक खुदको कड़का नहीं समझना चाहिये। उसी दुकान का मेरा केअर ऑफ एड्रेस था।

एक दिन नवभारत टाइम्स में मेरा एक पत्र छपा। पत्र में नीचे मेरा नाम था और पते की जगह न्यू आजाद डेरी फॉर्म छपा था। इससे दो बातें हुईं। एक तो खुद पर राइटर वाला ठप्पा लग गया और दूसरा, दुकान के मालिक रामचन्द्र सिंह से अपनापन-सा स्थापित हो गया।

एक दिन संघर्ष करके लौटा। जेब खाली थी, सोचा न्यू आजाद डेरी फॉर्म पर उधार समोसे वगैरह खाकर डिनर की औपचारिकता पूरी कर लूंगा। मगर उस दिन सारे समोसे बिक गये थे। वेटर ने बताया रसगुल्ले बचे हैं। मैं रसगुल्लों का डिनर कर के सो गया। संयोग से अगले दिन भी रसगुल्ले ही बचे थे। उस दिन भी मैंने रसगुल्लों का डिनर किया। इस तरह लगातार चार दिन तक रसगुल्लों का डिनर चला। अनुभवी रामचन्द्र सिंह समझ गये कि माजरा क्या है। अगले दिन उन्होंने बड़े भाई की तरह आदेश दिया कि जब तक काम नहीं मिले मेरे घर से टिफिन आया करेगा। तुम अपना संघर्ष जारी रखो। उस दिन मैंने बम्बई का नाम देवनगरी रखा।

पूरे एक साल रामचंद्र सिंह के घर से तब तक टिफन आता रहा जब तक मैंने खुद ही मना नहीं कर दिया। मैं जानता हूँ, ऐसे कर्ज चुकाये नहीं जा सकते, फिर भी कुछ साल बाद मैं कुछ रुपये और एक चांदी का गिलास लेकर गया। रामचंद्र सिंह ने चांदी का गिलास रख लिया और रुपये वापस कर दिये।

बाहर जाती बॉल खेला

गीत रिकॉर्डिंग के मौके पर (बाएं से दाएं) लेखक, डैनी, सोमदेव कश्यप और वर्षा भौंसले I

उन दिनों मैंने एक ऐसी गलती की जिसे क्रिकेट की भाषा में बाहर जाती बॉल खेलना कहते हैं। मैंने जोधपुर में 22 दिसंबर 1972 को मुकेश नाइट का आयोजन किया। हर शहर की अपनी संस्कृति होती है। जोधपुर में आदमी प्रोग्राम का पास हासिल करने के लिये दस रुपये का पेट्रोल फूंक देगा लेकिन दस रुपये का टिकट खरीदने में अपना अपमान समझता है।

नतीजा जो प्रोग्राम कुछ कमाने के लिये किया था उसमें साढ़े छः हजार रुपये का घाटा हुआ। फिर उस घाटे को पूरा करने के लिये 6 अक्टूबर 1973 को उषा मंगेशकर नाइट का आयोजन किया। उसमें न घाटा हुआ ना फायदा। मैं छोटे भाई प्रभुदान पर साढ़े छः हजार रुपये का कर्जा चढ़ा कर बम्बई लौट आया।

एक दिन धरमदास जी ने निर्माता निर्देशक जुगल किशोर जी से मिलवाया। जुगल जी ने 'सबक' फिल्म के लिये एक गीत की सिचुएशन दी। मैंने गीत लिखकर सुनाया। जुगल जी ने तुरंत पास कर दिया। मुझे मेरा फिल्मों में प्रवेश बहुत निकट लगने लगा। मगर अगले ही दिन म्यूजिक डायरेक्टर उषा खन्ना ने गीत रिजेक्ट कर दिया।

कुछ दिन बाद एक नये संगीतकार सोमदेव कश्यप नें मेरा एक गीत रिकॉर्ड किया जिसे एक्टर डैनी और आशा जी की लड़की वर्षा भोंसले ने गाया। मुझे मेरा फिल्मों में प्रवेश फिर बहुत निकट लगने लगा। मगर वह फिल्म बीच में ही बंद हो गयी। गुजारे के लिये मैं उर्वशी साप्ताहिक में बतौर पत्रकार काम करने लगा।

आशा भोंसले जी के घर डिनर

उषा मंगेशकर नाइट के दौरान उषा जी के सचिव वीरेन्द्र श्रीवास्तव जी से परिचय हुआ। वीरेन्द्र श्रीवास्तव जी से मुझे बहुत सपोर्ट मिला।

उन दिनों आशा जी के बड़े लड़के हेमंत भोंसले ने म्यूजिक डायरेक्टर बनने का इरादा जाहिर किया। उनकी धुनों पर डमी बोल लिखने के लिये एक गीतकार की जरूरत थी। वीरेन्द्र श्रीवास्तव जी ने मुझे हेमंत भोंसले के साथ लगा दिया। मुझे मेरा फिल्मों में प्रवेश फिर से बहुत निकट लगने लगा।

उस समय बम्बई में एक तरफ ताजमहल होटल में पांच हजार रुपये की स्पेशल थाली मिलती थी तो दूसरी तरफ गुजारे के लिये आठ आने में 'उसल पाव' भी मिलता था। तंगहाली का एक ऐसा दौर आया कि मुझे लगातार दस-बारह दिन 'उसल पाव' से गुजारा करना पड़ा।

28 अक्टूबर को मेरा जन्म दिन था। मैंने आशा जी को अपने जन्मदिन की बात बतायी। आशा जी ने एक शर्ट पीस देकर बड़े ही स्नेह से शाम का खाना अपने घर पर खाने का निमंत्रण दिया और कहा कि आज गज़ीबो (बांद्रा का एक प्रसिद्ध रेस्टोरेंट) से स्पेशल डिश मंगवाई है।

मैं बड़ा खुश हुआ। मन में सोचा आज जन्मदिन वाले दिन इतनी बड़ी गायिका के परिवार के साथ डिनर करने का सौभाग्य मिलेगा, और एक दिन के लिये ही सही मगर 'उसल पाव' से छुटकारा मिलेगा।

मगर जब गज़ीबो से आई डिश प्लेटों में सर्व हुई तो मैं हँसी रोक नहीं पाया। वह डिश 'उसल पाव' थी। उनके लिये स्पेशल डिश, लेकिन मेरे लिये रोज की कहानी। यह बात और थी कि वह 'उसल पाव' थ्री स्टार रेस्टोरेन्ट से आया था। आशा जी के परिवार के साथ भोजन करने का सौभाग्य तो मिला लेकिन 'उसल पाव' से छुटकारा नहीं मिला।

उन दिनों उषा मंगेशकर ने एक मराठी फिल्म 'जैत रे जैत' शुरू की। डायरेक्टर थे जब्बार पटेल और हीरोइन थी स्मिता पाटिल। वीरेन्द्र श्रीवास्तव जी ने मुझे प्रोडक्शन टीम में शामिल कर लिया। मजबूरी में उर्वशी साप्ताहिक की नौकरी छोड़नी पड़ी। तीन महीने तक लगातार आदिवासी इलाकों में शूटिंग थी। मैं भी कुछ सीखने के लालच में चला गया। तीन महीने के लिये मेरा सबसे संपर्क टूट गया। इस बीच कब मेरे छोटे भाई माधो सिंह की शादी तय हुई, और कब शादी हुई मुझे समाचार ही नहीं मिला।

तीन महीने की आउटडोर शूटिंग में काफी कुछ सीखने को मिला। मगर मेरे लिये सबसे बड़ी उपलब्धि थी, स्मिता पाटिल से परिचय।

ओशो का आशीर्वाद

पुणे स्थित आश्रम में ओशो के साथ लेखक अपने कवि मित्रें के साथ।

मैं अब भी खार ईस्ट में रहता था। सामान के नाम पर एक दरी, दो जोड़ी कपड़े और एक छोटी अटैची थी। उस अनिश्चितता के दौर में कभी-कभी सुबह चार बजे नींद खुल जाती और मैं भविष्य की चिन्ताओं से घिर जाता। तभी ओशो की चार किताबें - 1. गीता का दूसरा अध्याय 2. गीता का सत्रहवां अध्याय 3. देख कबीरा रोया और 4. कृष्ण मेरी दृष्टि में, हाथ लगीं। चारों किताबें पढ़ने के बाद लगा जैसे किसी ने मुझे प्राइमरी स्कूल से उठाकर सीधा कॉलेज पास करा दिया हो। ऐसा लगा जैसे किसी ने मेरे सामने वेदों के सारे रहस्य खोल दिये हों। मेरा वीजन क्लीयर हो गया। कविता और कहानियों के प्लॉट मेरी हाजिरी में खड़े रहने लगे। बाहर मैं अब भी एक दरी पर बैठा था मगर भीतर जैसे सिंहासन पर विराजमान था। उन दिनों कुछ बेहतरीन कविताएं और कहानियां लिखीं।

एक डॉन के बुद्ध बनने की एक कहानी मैंने लिखी जो 'टापू' शीर्षक से है। वह कहानी एक दिन गीतकार विट्ठल भाई पटेल ने सुनी। वह कहानी उनको बहुत अच्छी लगी। विट्ठल भाई पटेल ने वह कहानी चरित्र अभिनेता मनमोहन कृष्ण को सुनवाई। उन्होंने कहानी सुनकर बहुत कॉम्पलीमेन्टस् दिये और कहा कि यह ऑस्कर अवार्ड विनिंग कहानी है। इसे सही डायरेक्टर को देना।

एक दिन विट्ठल भाई पटेल मुझे पहले राजकपूर जी और फिर सुभाष घई के पास लेकर गये, दोनों अपनी-अपनी फिल्म की शूटिंग में व्यस्त थे अत: फिर किसी दिन कहानी सुनने का आश्वासन लेकर हम वापस आ गये।

लेकिन वह दिन फिर कभी नहीं आया। विट्ठल भाई पटेल राजनीति में व्यस्त हो गये। कुछ दिन बाद वे मध्य प्रदेश में मंत्री बन गये, उन्हें बम्बई आने का टाइम ही नहीं मिला। आखिरी बार वह कहानी सन 1981 के आसपास मैंने शशि कपूर जी को कैसेट में रिकॉर्ड कर के दी थी। वहाँ किसी ने कहा था कि इंडिया में अभी ऐसी कहानियों का समय नहीं आया है।

शशि कपूर जी को 'टापू' कहानी कैसेट में भर के देने के ठीक उन्नीस साल बाद सन 2000 में हॉलीवुड में एक फिल्म बनी 'कास्ट अवे' जो मेरी कहानी से हुबहू मिलती थी। मनमोहन कृष्ण जी की बात भी सही निकली 'कास्ट अवे' फिल्म को चार ऑस्कर मिले।

'गोपी' फिल्म के बाद एक्टर दिलीप कुमार उम्र के उस पड़ाव पर थे जहाँ वे परंपरागत हीरो का रोल नहीं कर सकते थे।

''तो क्या इतना महान एक्टर बड़े भाई या पिता का रोल करेगा?"

यह सोचकर मैंने दिलीप कुमार को केन्द्रीय भूमिका में और ऋषिकेश मुखर्जी को डायरेक्टर, ध्यान में रखकर 'द एक्टर' कहानी लिखी जो 13 जून 1972 को राइटर्स एसोसिएशन में 'जज साहब' शीर्षक से रजिस्टर करवाई।

संवेदनशील गीतकार योगेश जी से मेरा परिचय था। वे ऋषिकेश मुखर्जी के साथ आनंद फिल्म के गीत लिख चुके थे। मैंने वह कहानी योगेशजी को सुनाई। योगेशजी ने वह कहानी ऋषिदा के बजाय प्रोड्यूसर प्रकाश वर्मा को सुनाई जिन्होंने अमिताभ बच्चन और जया भादुड़ी को लेकर 'बन्सी बिरजू' फिल्म बनाई थी। प्रकाश वर्मा को कहानी पसंद आई और योगेश जी ने कहा कि जाकर साइनिंग अमाउन्ट ले लो। मुझे फिल्मों में मेरा प्रवेश फिर बहुत निकट लगने लगा।

प्रकाश वर्मा ने मुझे साइन किया और अगले ही पल मैं फिल्म इंडस्ट्री का हिस्सा था। लगभग दो महीने तक मैं फिल्म इंडस्ट्री का हिस्सा बना रहा। कहानी का थीम 'दो आंखें बारह हाथ' और 'जिस देश में गंगा बहती है' की अगली पीढ़ी का था। मुख्य भूमिका में नया अभिनेता नहीं, कोई आभा मंडल धाारण करने वाला अभिनेता ही चाहिये था।

दो महीने बाद प्रकाश वर्मा जी ने दिलीप कुमार की जगह श्रीराम लागू को साइन किया। मुझे तभी फिल्म का भविष्य पता चल गया कि यह फिल्म कभी नहीं बनेगी।

वह फिल्म कभी नहीं बनी। मैं फिर फिल्म इंडस्ट्री से आउट हो गया। देश के सुधी दर्शक एक अच्छी फिल्म देखने से फिर वंचित रह गये।

लाल किले पर आयोजित कवि सम्मेलन

स्टोरी ले लो !... स्टोरी वाले !!

आदमी को अपनी परीक्षा की कॉपी खुद ही जांचनी आनी चाहिये। मैंने अपने गीतकार की कॉपी जांची तो पाया कि मुझसे कई गुना ज्यादा प्रतिभाशाली गीतकार यहाँ संघर्षरत हैं। मैंने गीतकार बनने की इच्छा और कोशिश दोनों छोड़ दी।

लेकिन जब अपने कहानीकार की कॉपी जांची तो मैंने अपने आप को सौ में से सौ नंबर दिये और निकल पड़ा कहानियों का खोमचा लेकर कहानियां बेचने... स्टोरी ले लो ! .... स्टोरी वाले !! .... मौलिक, सुंदर और टिकाऊ स्टोरी वाले !!!

साहब बाथरूम में हैं

मैं कहानियों का खोमचा लेकर निर्माता के यहां पहुंचा। नौकर ने मुझे बताया-'साहब बाथरूम में हैं। फोन करके आना।' मैं वापस लौट आया।

अगले दिन फोन किया तो नौकर ने वही जवाब दिया - 'साहब बाथरूम में हैं।'

मैं कई दिनों तक निर्माता के बाथरूम से बाहर आने का इन्तज़ार करता रहा। इस उम्मीद के साथ कि एक न एक दिन मेरी कहानियाँ ज़रूर सुनी जायेंगी और पसंद की जायेंगी मगर निर्माता बाथरूम से बाहर ही नहीं आ रहे, बाथरूम में घुसे बैठे हैं। मैं बाहर इंतज़ार कर रहा हूँ। क्या इस दिन के लिए दादा साहेब फालके सिनेमा को भारत में लेकर आये थे?

बाद में पता चला सिर्फ मैं ही नहीं, जब भी कोई कहानीकार निर्माता का दरवाजा खटखटाता है तो जवाब मिलता है - 'साहब बाथरूम में हैं।' निर्माता के यहाँ सबका स्वागत है। केवल कहानीकार के लिये बोर्ड टंगा है- 'मेरे अंगने में तुम्हारा क्या काम है।'

इसलिये सौ वर्षीय बॉलीवुड अब भी बच्चा बना हुआ, एक जगह खड़ा कदमताल कर रहा है। कभी साउथ की फिल्मों का रिमेक, तो कभी पुरानी हिन्दी फिल्मों का रिमेक बना रहा है। बॉलीवुड का लेखक, सिनेमा देखकर सिनेमा लिख रहा है।

कहानी की उपेक्षा करना, बॉलीवुड के स्वास्थ्य के लिये ठीक नहीं। निर्माता महोदय अगर चाहते हैं कि बॉलीवुड जल्दी जवान हो तो उनको कहानीकार के लिये बाथरूम से बाहर आना ही पड़ेगा। वैसे वे जहाँ भी रहें, सुखी रहें। मगर इतनी देर बाथरूम में रहना भी ठीक नहीं।

फिर एक दिन पता चला प्रोड्यूर साहब ने एक बड़े स्टार को साइन कर लिया है, इसलिये अब उनको कहानी की जरूरत नहीं है।

मैंने फोन किया तो नौकर बोला-साहब मीटिंग में हैं। मैंने मन में सोचा– चलो इतने साल बाद ही सही साहब बाथरूम से बारह तो निकले। मैं इन्तजार करने लगा। पहले मैं साहब के बाथरूम से बाहर आने का इन्तजार करता था। अब मीटिंग खत्म होने का इन्तजार कर रहा हूं।

कवि सम्मेलनों की ओर

काव्य यात्रा के शुरूआती दिन

मुझे काफी दिनों से लग रहा था जैसे कोई शक्ति मुझे बार-बार काव्य मंचों की ओर धकेल रही है। उन्हीं दिनों गीतकार सुधाकर शर्मा ने मुझे दो महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलवाया। एक कवि सम्मेलनों के शिखर संचालक श्री रामरिख मनहर से और दूसरे बनारसी स्वीट मार्ट के मालिक एवं कवि श्री मोतीलाल मिश्र से। मोतीलाल जी मिश्र के यहाँ कई साहित्यकारों का आना-जाना था। यहीं से मेरा कवि सम्मेलनों का रास्ता खुला। मैं इक्के-दुक्के कवि सम्मेलनों में जाने लगा। 26 मार्च 1977 को पहला अखिल भारतीय मंच मिला।

मोतीलाल जी मिश्र की एक पुस्तक के विमोचन के अवसर पर एक काव्य गोष्ठी हुई। उस काव्य गोष्ठी में पंडित नरेन्द्र शर्मा जी, श्री धर्मवीर भारती जी, श्रीमति पुष्पा भारती जी, श्री रामरिख मनहर जी और श्री इंद्रजीत सिंह जी तुलसी जैसी हस्तियां उपस्थित थीं। मैं श्रोताओं में बैठा कसमसा रहा था कि काश! इन बड़ी हस्तियों के बीच एक कविता सुनाने का मौका मुझे मिल जाय तो मजा आ जाय। तभी भला हो इंद्रजीत सिंह तुलसी जी का कि उन्होंने मेरे नाम की सिफारिश कर दी। मैंने एक छोटी-सी व्यंग्य कविता सुनाई। वह कविता भारती जी और पुष्पा जी को इतनी पसंद आई कि अगले ही पल मैं पगडंडी से निकल कर राजपथ पर आ गया।

उन दिनों किसी कवि के लिये धर्मयुग में चार पंक्तियों की कविता छपना भी बड़ी बात होती थी। तब 1978 में भारती जी ने धर्मयुग के होली विशेषांक में पूरे पेज पर मेरी कविता 'केले का छिलका बनाम प्रधान मंत्री का लड़का', छापकर मुझे रातो-रात स्टार बना दिया। फिर कई बार मैं धर्मयुग में छपा। उन्हीं कविताओं में से चार कविताओं को मेरे सद्‌गुरु ओशो ने 'काहे होत अधीर'

प्रवचन माला में सुनाया।

मुंबई आदमी को वसुधैव कुटुंबकम का पाठ पढ़ाने वाला शहर है। मोतीलाल जी मिश्र से जब भी मिलने जाता था तो वे चाय-नाश्ते के लिये पूछते थे। एक दिन मिलने गया तो उन्होंने हमेशा की तरह पूछा - "आइये आश करण जी क्या लेंगे।" मैंने कहा–"एक प्लेट समोसा और पचास रुपये लूंगा।" मुझे पचास रुपये की जरूरत थी। मेरा निसंकोच पचास रुपये मांगना और मोतीलाल जी का मुस्कुरा के पचास रुपये देना वसुधैव कुटुंबकम का जीता जागता उदाहरण था।

मुझमें सेंस ऑफ ह्यूमर, मेरे पांचवीं क्लास के अध्यापक श्री चैन सिंह जी रायपुरिया, मेरे गांव के अद्भुत हास्य कलाकार पन्नेदान जी एवं मित्र श्रीधर पुरोहित के कारण आया। मैं हास्य व्यंग्य कवि के रूप में मंचों पर जाने लगा।

शुरू-शुरू में कवियित्री श्रीमति प्रभा ठाकुर ने मंचों पर मुझे बहुत सपोर्ट किया। कुछ समय बाद कवि सुरेन्द्र शर्मा जी ने अपनी टीम में शामिल कर लिया। मैं अब भी स्टोरी का खोमचा लेकर अक्सर निकलता था।

सुरेन्द्र शर्मा जी के ही एक कवि सम्मेलन, में जो एक फाइव स्टार होटल में था, श्रोताओं में श्री बी. आर. चोपड़ा, श्री रवि चोपड़ा, श्री रामानंद सागर समेत कई बड़े प्रोड्यूसर डायरेक्टर सुनने आये थे। प्रोग्राम खूब जमा। प्रोग्राम के बाद वे प्रोड्यूसर-डायरेक्टर बहुत सम्मान से मिले। मुझे फिर फिल्मों में अपना प्रवेश निकट लगने लगा, लेकिन एक दिन उन्हीं प्रोड्यूसरों में से एक प्रोड्यूसर से स्टोरी सुनाने के लिये समय मांगा तो सारी अर्जित इज़्जत मिट्टी में मिल गयी। उन्होंने बहाने से टाल दिया और अगले साल मिलने को कहा।

एक और प्रोड्यूसर ने स्टोरी सुनने का टाइम तो दिया, लेकिन मैं पहुँचा तो सुनने से पहले ही सवाल किया कि ''स्टोरी में डुएटसांग की सिचुएशन है कि नहीं है। हमारे पास एक बहुत अच्छा डुएट साँग है।'' मैंने जब मना किया कि इस स्टोरी में डुएट साँग की सिचुएशन नहीं है तो उन्होंने मुझ पर एक साहित्यकार होने का आरोप लगाते हुए कहा कि ''बिना डुएट साँग के भी कहीं कोई फिल्म बनती है?'' मैंने कहा - ''हाँ बनती है। पिछले हफ्ते मैंने 'गांधी' फिल्म देखी थी। उसमें महात्मा गांधी और कस्तूरबा का एक भी डुएट साँग नहीं था।''

मुझे डायरेक्टर बनना पड़ा

ऋषिकेश मुखर्जी को अपनी पुस्तक दिखाते हुए।

एक दिन मैंने हिसाब लगाया तो पाया कि नये जितने भी ठीक-ठाक डायरेक्टर आये हैं या आ रहे हैं वे सब अपने आइडिये या अपनी स्टोरी पर ही फिल्में बनाते हैं और पुराने लोगों के पहले से ही अपने-अपने गिरोह बने हुए हैं। शायद इसलिये मेरी कहानियां नहीं बिक रही हैं। सो मैंने खुद डायरेक्टर बनने का फैसला किया। आजमाइश के तौर पर 'नमूना' शीर्षक से एक टेली फिल्म का प्लान बनाया। गजलकार हस्तीमल हस्ती प्रोड्यूसर बनने के लिये तैयार हुए। पेंटल, राजेश पुरी, राकेश बेदी, शैल चतुर्वेदी, युनुस परवेज, शोभा खोटे, लिलीपुट आदि कलाकारों को लेकर फिल्म बनाई। जो दिसंबर 1985 में दूरदर्शन पर दिखाई गयी। उसके बाद कवि सुरेन्द्र शर्मा और सुलभा आर्या को लेकर एक डाक्यूमेन्टरी फिल्म बनायी, दोनों ही फिल्में बिना किसी नोटिस के आई गयी हो गयीं।

कवि सम्मेलनों का सम्मानजनक जीवन जीते हुए फिल्म निर्माताओं के ऑफिसों के चक्कर काटना, अब जम नहीं रहा था। मैं चाहता था किसी पहचान वाले के द्वारा, चुने हुए डायरेक्टरों से मिलूं। इसी कोशिश में एक दिन कवि अभिनेता शैल जी ने मुझे ऋषिदा से मिलवाया। मैं बहुत दिनों से ऋषिदा को 'द एक्टर' कहानी सुनाना चाहता था।

मगर मैं मिला तबतक ऋषिदा बीमारी की वजह से रिटायर हो चुके थे। उन्होंने मेरी कहानी सुनकर कहा - ''अटल जी बेटा, आपकी स्टोरी बहुत अच्छी है लेकिन अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, काम नहीं कर सकता।''

मुंबई में अपना घर

'फिल्म पुराण' के विमोचन के अवसर पर (बाएं से दाएं)
अरुण जैमिनी, शैलेश लोढ़ा, सुरेन्द्र शर्मा, गोविन्दा, वीनू महेंद्र और लेखक।

एक दिन कवि मधुप पांडेय के पूना के एक कवि सम्मेलन में विट्ठल मणियार साहब से मुलाकात हुई जो मेरे लिये वरदान साबित हुई। वे राजनेता शरद पवार साहब के मित्र थे - यह बात मुझे बाद में तब पता चली जब मैं ओशो आश्रम में हुए एक कवि सम्मेलन में भाग लेने पहुंचा। तब तक मुंबई में मेरा अपना घर नहीं था, बतौर पेइंग गेस्ट कमरे बदलते-बदलते मैं थक चुका था।

प्रोग्राम के बाद सोते समय आधी रात को मेरे दिल की गहराइयों से प्रार्थना निकली कि - 'हे भगवान रजनीश! मुझे मुंबई में एक घर दिला दे।' और आश्चर्यों का आश्चर्य घटित हुआ। सुबह आठ बजे घर मिलने की राह निकल आयी। किसी ने मुझे बताया कि आप विट्ठल मणियार साहब से मिलो। वे कलाकार कोटे में मुख्यमंत्री से आप को फ्लैट दिलवा देंगे। मैं तुरंत मणियार साहब से मिला। मणियार साहब ने मुझसे फ्लैट एलॉटमेन्ट की एप्लीकेशन ली और कुछ ही दिन बाद मुख्यमंत्री कोटे से मुझे दो बेडरूम हॉल का फ्लैट देने का स्वीकृति पत्र मिल गया।

बचपन में पढ़ाई के कारण और फिर रोजी-रोटी के चक्कर में मेरा घर छूटा था। तब से मैं लगभग बनजारों वाला जीवन जीता रहा था। फ्लैट की चाबी मिली तो फ्लैट की हर दीवार से गले मिलकर रोया।

फ्लैट में शिफ्ट होते ही मैं अपनी माँ और परिवार को मुंबई लाया। बचपन में बिछड़ा तो उसके बाद अब पहली बार लम्बे समय तक माँ के साथ रहा।

पापा इस साल मेरा नाम क्या रखोगे?

बेटी महिमा और पौत्र दिग्विजय सिंह

मैंने छोटी बेटी महिमा को स्कूल में भर्ती कराया। जब वह पहली कक्षा पास करके दूसरी कक्षा में आयी तो उसने मुझसे एक अजीब-सा सवाल पूछा –"पापा इस साल मेरा नाम क्या रखोगे?" पहले तो मैं समझा नहीं। फिर समझ में आया तो देर तक हँसता रहा।

हुआ यह था कि पहले उसे गांव के स्कूल में बुआ जी ने, अपने रखे हुए कंचन नाम से भर्ती कराया। फिर मेरे छोटे भाई ने जोधपुर में इंगलिश स्कूल में भर्ती कराया तो उसने अपने रखे हुए सुनीता नाम से भरती कराया। यहाँ मुंबई में मैंने महिमा नाम से भर्ती कराया तो उसने शायद समझा कि हर क्लास में नया नाम रखने की परंपरा होती होगी। इसीलिये उसने मासूम सा सवाल पूछा कि –"पापा इस साल मेरा नाम क्या रखोगे।"

रूस यात्रा पर माँ की प्रतिक्रिया

स्व- माताश्री लाछों बाई

अप्रैल 1995 में मैं रूस गया। अब तक मैं सात-आठ देशों की साहित्यिक यात्राएं कर चुका था, लेकिन रूस का कुछ अलग ही आकर्षण था। लौट कर मैंने अपनी खुशी प्रकट करते हुए माँ से कहा–"माँ मैं रूस जाके आया हूँ। माँ ने कोई खास प्रतिक्रिया नहीं दी। तब यह समझाने के लिये कि रूस जाना बड़े गर्व की बात होती है। मैंने माँ को बताया कि हवाई जहाज से आठ घंटे लगते हैं पहुँचने में, इतना दूर है रूस। तब माँ ने बड़ी ही सादगी से कहा - ''हाँ बेटा! जब नजदीक काम नहीं मिलता तो दूर जाना ही पड़ता है।''

माँ के लिये रूस जाना और अहमदाबाद जाना एक जैसा ही था। मगर उस दिन पिताजी जिन्दा होते तो पूरे इलाके में ढिंढोरा पिटवा देते–'मेरा बेटा रूस जाकर आया है।' मुझे याद है दसवीं क्लास में एक स्थानीय अखबार में मेरी पहली सचित्र कविता छपी थी। पिताजी ने अखबार का वह अंक तब तक बड़े चाव से सहेजकर अपने पास रखा जब तक मेरे गांव वासियों और आस-पास के सभी जानने वालों ने उसे कम से कम एक बार देख नहीं लिया और अंतत: फट-फटा नहीं गया।

आज भी कोई छोटी-मोटी उपलब्धि हासिल होती है तो सबसे पहले पिता जी याद आते हैं। मेरे पास उनकी कोई तस्वीर भी नहीं है कि अपने घर की दीवार पर लगा सकूं। उनकी धुंधली-सी सूरत याद है। वे छोटे कद के थे। हफ्ते-दस दिन की दाढ़ी में कुछ-कुछ शिरडी के साईं बाबा जैसे लगते थे।

जीसा मैं भी अमरीका चलूंगा

12 दिसंबर 2003 को मेरे घर एक छोटा-सा मेहमान आया, दिग्विजय सिंह भीमावत ऊर्फ कनु - मेरे भतीजे महीपाल का बेटा और मेरा पोता। वह जब चार महीने का हुआ और मैं उसे देखने उसके ननिहाल गया तो उसने पहले ही लुक में मेरा दिल ले लिया। मुझे लगा जैसे मेरे पिताजी वापस लौट के आ गये, आते भी कैसे नहीं, मुझसे मेरी कमाई के ब्याज सहित सौ रुपये जो लेने थे। उन्होंने शरीर छोड़ने से पहले कहा था कि वे दुबारा मेरे छोटे भाई प्रभुदान के घर आयेंगे।

जब मैं कवि सम्मेलन में जाने के लिये अटैची जमाता हूं तो कनु हर बार पूछता है–"जीसा आप कहाँ जा रहे हो? मैं भी चलूंगा।" एक दिन मैं दिल्ली जाने के लिये अटैची जमा रहा था। रोज की तरह कनु ने पूछा–"जीसा आप कहाँ जा रहे हो।" मैंने कहा–"दिल्ली जा रहा हूं।" वह बोला–"मैं भी दिल्ली चलूंगा।" मैंने पहली बार समझाने के इरादे से कहा–"अभी तुम छोटे हो। वहाँ पोट्टी जाओगे तो धोयेगा कौन?" वह तुरंत समझ गया और मान गया।

कुछ दिन बाद मुझे अमरीका जाना था। ज्योंही अटैची जमाने लगा कनु ने पूछा–"जीसा आप कहाँ जा रहे हो?" मैंने कहा–"मैं अमरीका जा रहा हूँ।" वह बोला–"मैं भी अमरीका चलूंगा।" मैंने दिल्ली की तर्ज पर कह दिया–"वहाँ पोट्टी जाओगे तो धोयेगा कौन?" वह तुरंत मान गया। मगर मैंने एक अतिरिक्त संवाद बोल दिया कि–"अभी तुम छोटे हो। जब बड़े हो जाओगे तब चलना।" वह तुरंत बोला–"तो क्या बड़े लोग पोट्टी नहीं जाते?"

बिटिया महिमा बचपन से ही अन्तरमुखी है। मुझसे बहुत कम बात करती थी। वह कब बड़ी हुई पता ही नहीं चला। कनु हर वक्त मुझसे चिपका रहा। मैंने रोज-रोज उसे बाल लीलाएं करते देखा। एक बचपन अपने सामने खिलते बढ़ते हुए देखा।

नौ दिन चले अढ़ाई कोस

निर्देशक सूरज बड़जात्या के साथ लेखक

मैं जब नया-नया बंबई आया था तब एक चुटकला सुना था। चुटकले में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूछता है–"आप क्या करते हैं? तब दूसरा व्यक्ति जवाब देता है–"मैं गीत और कहानियां बेचता हूं।" पहला व्यक्ति फिर पूछता है–"अब तक कुछ बिका है?" तब दूसरा व्यक्ति जवाब देता है–"हाँ! अब तक मेरी घड़ी, अंगूठी और रेडियो बिका है।"

मुझे संतोष है कि कवि सम्मेलनों के कारण मेरी घड़ी, अंगूठी और रेडियो बिकने से बच गया। मगर कहानियां नहीं बिकने का अफसोस भी है। फिल्मों में लिखने के नाम पर मैंने नौ दिन में अढ़ाई कोस चलते हुए अनूठे डायरेक्टर सूरज जी बड़जात्या की दो फिल्मों के संवाद लिखे हैं। उनमें पहली फिल्म है 'विवाह' और दूसरी है सलमान खान अभिनीत सूरज जी की निर्माणधीन फिल्म।

मैंने ओशो के विजन और ऋषिकेश मुखर्जी की शैली को अपनाकर कई अच्छी-अच्छी कहानियां लिखी हैं। मेरी लिखी कहानियों में सिर्फ 'छोटे दिल का आदमी' आउट ऑफ डेटेड हुई है तथा 'सिनेमा', 'धर्मेन्द्र और धरमपाल' अगर जल्दी नहीं बनीं तो आउट आफ़ डेटेड हो सकती हैं।

मेरी कहानियां - 'टापू', 'द एक्टर', 'उत्तराधिकारी', 'फिर किसी ने प्यार किया', 'पतिदेव', 'तुम देवदास मत बनना', 'आइटम', 'कैरियर', 'सुबह', 'गुड-मॉर्निंग जिन्दगी', 'शुक्रिया' आदि सिनेमा के बाजार की हर शर्त पूरा करने की क्षमता रखती हैं, बस निर्माता साहब को बाथरूम और मीटिंग से फुरसत मिलने भर की देर है।

दूसरा भाग

सिनेमा का सफ़र

स्थायी पात्र

हमारे भारतीय सिनेमा का एक सुपरिचित और जाना-पहचाना फ्रेम है। जाने-पहचाने कथानक में एकदम स्थायी रूप से हज़रते दाग की तरह जमकर बैठे हुए जाने-पहचाने पात्र हैं। इतने जाने-पहचाने कि रेगुलर दर्शक पोस्टर देखकर फ़िल्म की कहानी बता सकता है। कुछ स्थायी पात्रों से मिलिए–

नायिका

नायिका के होंठ हमेशा मुस्कराते रहते हैं, कमर लचकती रहती है और जिया धड़कता रहता है। वह नायक के लिए गाना गाती है और दर्शकों के लिए नहाती है। नायिका को देखकर दर्शक अपने आपको भूल जाता है और नायक अपने मां-बाप को भूल जाता है। वह हमेशा सोलह साल की रहती है।

नायिका फ़िल्म की जान होती है। वह दर्शकों की भी जान होती है। अगर फ़िल्म में नायिका न हो तो मुए नायक को दर्शक एक पल बर्दाश्त नहीं करें। नायिका खलनायक की भी जान होती है। वह नायिका को जी-जान से चाहता है, लेकिन अपनी बेवकूफ़ियों से उसे नाराज कर देता है। गरज यह कि एक अदद नायिका, एक साथ कइयों की जान होती है।

वक्त के साथ-साथ जितना नायिका ने अपने आपको बदला है, उतना किसी पात्र ने नहीं बदला। पहले वह चांद के बहाने या चांद का सहारा लेकर अपने प्यार का इजहार करती थी। आजकल वह नायक के कंधे से कंधा मिलाकर प्यार के मैदान में उतरती है।

पहले वह घूंघट के पीछे के राज बताने में भी कन्नी काट जाती थी। आजकल वह चोली के पीछे के रहस्य भी बड़े उदार मन से बताने लगी है। हमें भविष्य की नायिका से बड़ी उम्मीदें हैं।

नायक

नायक सिर्फ नायक होता है। वह नायक होने के अलावा कुछ नहीं हो सकता। वह चाहे किसी किराने की दुकान पर बिठाने के लायक नहीं हो तब भी नायक होता है, वह मारामारी करता है, तब नायक होता है, वह कन्याओं को छेड़ता है तब नायक होता है, वह स्मगलिंग करता है तब नायक होता है, वह शराब पीता है तब नायक होता है और हैरतअंगेज कारनामे करता है, तब तो वह नायक होता ही है। नायक को नायक होने से नायक का बाप भी नहीं रोक सकता। फ़िल्म में अगर कहानी हो तो वह नायक के इर्द-गिर्द घूमती है और नायक नायिका के इर्द-गिर्द घूमता है।

नायक फ़िल्म में टुच्चे काम नहीं करता, वह नल पर जाकर पानी नहीं भरता। अगर नायक नल पर जाकर पानी भर ले तो उसकी फ़िल्म पानी नहीं मांगे। नायक सब्जी मार्केट जाकर सब्जी नहीं खरीदता, यह उसकी शान के खिलाफ है। हां, नायिका अगर सब्जी बेचने वाली हो तो वह

जरूर जाएगा, शान की ऐसी-तैसी!

सहनायक

किसी-किसी फ़िल्म में एक सहनायक भी होता है। सहनायक यानी साइडहीरो, दिखने में वह कुछ-कुछ नायक जैसा ही लगता है, वैसे ही कपड़े पहनता है, वैसे ही चलता है और वैसी ही बेवकूफियां करता है, जैसी नायक करता है। सहनायक सबसे बड़ी बेवकूफ़ी यह करता है कि वह उस लड़की को दिल दे बैठता है, जिसे नायक ने पहले से ही दिल दे रखा है। बेचारे की बदकिस्मती देखो कि उसे अन्त में पता चलता है कि जिसे वह अपनी समझ के मुस्करा रहा था, वह तो किसी और की है। जिसे प्रेमिका समझ रहा था, वह तो होने वाली भाभी है।

जब गीदड़ की मौत आती है तो वह गांव की तरफ मुंह करता है। जब सहनायक की मौत आती है तो वह नायिका से प्यार करने लगता है, फिर गीदड़ भी रोता है और सहनायक भी रोता है, ''अगर गलती की है तो भुगतो! पहले ही अपनी औकात में रहते। सहनायक होकर नायिका को दिल देने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई?''

अब बेचारे सहनायक के लिए एक ही रास्ता बचता है, कुर्बानी का रास्ता। नायक की जान बचाने के लिए, खलनायक के हाथों मारा जाता है। बेचारा साइड नायक! चौबेजी छब्बेजी बनने गए, दुबेजी भी नहीं रहे।

नायक की बहन

फ़िल्म इतिहास के मध्यकाल में कोई फ़िल्म नायक की बहन के बगैर पूरी नहीं होती थी। नायिका हो न हो, बहन जरूर होती थी। बहन भरी-पूरी जवान, चार बच्चों की मां लगती, पर भैया के सामने बच्ची बनी रहती। फ़िल्म की पहली रील में बहन भाई की कलाई पर राखी बांधती थी और लगे हाथ एक राखी का गीत भी गा लेती थी।

दूसरी रील में बहन भाई को छेड़कर भागती थी। भाई किसी खटिया या दीवार के पूरे दो चक्कर दौड़कर बहन को पकड़ लेता। तब बहन मटक कर नायक से कहती–''भैया, मुझे एक अच्छी-सी भाभी ला दो ना।'' हालांकि भैया पहले से ही इस काम में बड़ी गंभीरता से लगे हुए होते, पर ऊपर से कहते, ''नहीं पगली, पहले मैं तेरे हाथ पीले कर दूं।''

अब यहां से शुरू होता था दर्शकों के लिए आंसुओं का सफर, जो फ़िल्म के थमने पर ही थमता था। होता यूं था कि या तो बहन के साथ बलात्कार हो जाता था और वह आत्महत्या कर लेती थी या वह लड़का शादी से मना कर देता था, जो बहन के लिए खोजा था या लड़के का बाप दहेज की खातिर बारात लौटा ले जाता। यह सब नहीं होता तो ऐसा होता कि बहन की सास ललिता पवार निकल आती। ऐसी फ़िल्म में दर्शकों को ढाई घंटे रुलाने की पूरी गारंटी होती थी।

बेचारा नायक बहन का बदला लेने या उसका घर बसाने के चक्कर में फंस कर रह जाता था। अपनी नायिका के पास तक नहीं फटक पाता था और मान लो पास फटकने का कोई मौका

निकल भी आता, तो सेंसर बोर्ड उसे ठीक से पास नहीं जाने देता, इसलिए ऐसी फ़िल्मों को साफ-सुथरी फ़िल्में कहा जाता था।

नायक और नायिका के बाप

फ़िल्म में नायक और नायिका की कुंडली भले ही मिल जाए। नायक के बाप और नायिका के बाप की कुंडली कभी नहीं मिलती। फ़िल्म में नायक का बाप अमीर होगा तो नायिका का बाप गरीब ही होगा। प्यार की खबर के साथ ही अमीर बाप फैसला सुना देगा, ''यह शादी हरगिज़ नहीं हो सकती।'' लो, कर लो शादी, बाप अड़ गया। अब कुछ नहीं हो सकता, दर्शक को सदमा लगता है। भारतीय फ़िल्म का दर्शक यानी बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना, बाप और बेटे की लड़ाई में अन्त तक पिसता है।

उधर नायक नायिका के साथ दो युगल गीत गा चुका होता है। वह अपनी मेहनत बेकार जाते देखकर बगावत का रास्ता चुनता है। दर्शक की सोई उम्मीद फिर जाग पड़ती है। बेचारा नायिका का गरीब बाप तो पहले से ही माना हुआ होता है। पचास प्रतिशत मामला तो वैसे ही साफ है, बाकी पचास प्रतिशत भी नायक किसी तरह सुलटा लेता है।

अगर दोनों के बाप अमीर हैं और बराबर की पोज़ीशन के हैं तो दोनों के बीच कोई खानदानी दुश्मनी निकल आती है, कुंडली फिर भी नहीं मिलती। ऐसी फ़िल्म में नायक के साथ-साथ नायिका की भी मट्टी पलीद होती है, बहुत दुष्ट होते हैं नायक और नायिका के बाप लोग।

जानवर कलाकार

नायक-नायिका, खलनायक, कॉमेडियन और कई चरित्रों के अलावा फ़िल्मों में एक जानवर कलाकार भी होता है जैसे–हाथी, घोड़ा, बंदर, कुत्ता, भालू, सांप वगैरह-वगैरह। फ़िल्मों में ये जानवर कलाकार अपनी परवाह करना छोड़कर नायक-नायिका के लिए काम करते हैं। उनके लिए खलनायक से पंगा लेकर अपने लिए मुसीबत मोल लेते हैं। नायक और नायिका का मिलन कराने की धुन में घोड़ा अपनी घोड़ी और कुत्ता अपनी कुतिया को भुला देता है। यहां आकर जानवर कलाकार त्याग और बलिदान में आदमी से बाजी मार ले जाता है।

पर असली मुसीबत तो तब खड़ी होती है जब किसी फ़िल्म में कोई घोड़ा नायक से अभिनय में बाजी मार ले जाता है। अख़बारों में घोड़े के अभिनय की तारीफ छपती है। इसको फ़िल्मों की भाषा में कहते हैं कि 'घोड़ा अभिनय में नायक को खा गया।' फ़िल्म के अन्त में नायक को नायिका मिल जाती है लेकिन दर्शकों की सारी तालियां घोड़ा अपनी जेब में डालकर चल देता है।

खलनायक

पराई औरत मां समान और पराया धन मिट्टी के बराबर होता है। यह बात कभी किसी खलनायक की समझ में नहीं आई। हमेशा पराई औरत और पराए धन की खातिर अपनी मिट्टी

खराब कराई। रावण, कंस और दुर्योधन से लेकर गब्बर सिंह और मोगैम्बो तक, कितने ही खलनायक आए, नायक से टकराए और मृत्युलोक सिधारे। किसी खलनायक ने अपने वरिष्ठ खलनायक से कोई सबक नहीं सीखा, क्योंकि खलनायक न सिर्फ नायक का दुश्मन होता है, अपनी अक्ल का भी दुश्मन होता है। नायक के घूंसे और पुलिस के जूते खाने के बाद भी उसे अक्ल नहीं आती।

इसके पीछे एक ही कारण है और वह है, शराब। खलनायक शराब छोड़ दे तो अगले दिन सुखी हो जाए, उसकी जून सुधर जाए। समझाना अपना फर्ज है समझा दिया, समझना-न-समझना खलनायक की मर्जी। वैसे जो नायक की लातों से नहीं सुधरा, वह अपनी बातों से क्या सुधरेगा।

कॉमेडियन

आजकल फ़िल्मों में कॉमेडियन की उपेक्षा होने लगी है, क्योंकि नायक खुद कॉमेडी करने लगा है। यह नायक ने अच्छा नहीं किया, उसने कॉमेडियन के पेट पर लात मारी है, उसका हक छीना है।

वरना पहले की फ़िल्मों में इधर नायक का एक सीन गया, उधर कॉमेडियन का सीन आया। इधर नायक दर्शकों को रुलाकर जाता है, उधर तुरंत कॉमेडियन आता और हंसाकर दर्शकों का हिसाब-किताब बराबर कर देता। उन्हीं दिनों एक टाइम ऐसा भी आया था, जब कॉमेडियन नायक पर भारी पड़ने लगता था। लोग उसकी एन्ट्री पर तालियां बजाने लगते थे। नतीजा यह हुआ कि कॉमेडियन अपनी खाल से बाहर आ गया, वह नायक बन बैठा। नतीजा, धोबी का कुत्ता न घर का रहा, न घाट का।

आजकल कॉमेडियन नायक का चमचा बनकर रह गया है। नायक के दोस्त उसके दोस्त, नायक के दुश्मन उसके दुश्मन, नायक हंसता है तो वह भी हंस लेता है। नायक पिटता है तो वह भी पिट लेता है।

ठाकुर

किसी फ़िल्म में एक ठाकुर होता है। वह फ़िल्म के शुरू में ठाकुर होता है, बीच में ठाकुर होता है और अन्त तक ठाकुर ही रहता है। यह ठाकुर रियल लाइफ में क्या करता है वह तो पता नहीं, पर फ़िल्मों में यह गरीबों के साथ अत्याचार और नायिका के साथ बलात्कार के काम आता है।

किसी फ़िल्म में कोई लाला भी हो तो गरीबों के साथ अत्याचार की जिम्मेदारी वह संभाल लेता है। ऐसे में ठाकुर के पास नायिका को सताने का एक सूत्रीय कार्यक्रम रह जाता है।

देश की इतनी तरक्की के बाद भी यह फ़िल्मी ठाकुर आज भी वहीं खड़ा है, जहां वह पहली फ़िल्म में खड़ा था। एक अट्टहास के साथ पर्दे पर प्रकट होता है और एक चीख के साथ विलीन हो जाता है। घोड़े पर चढ़कर आता है और अर्थी पर चला जाता है, ठाकुर खत्म तो फ़िल्म खत्म!

चांद

मूक फ़िल्मों के जमाने से ही चांद फ़िल्मों में छोटे-बड़े रोल करता आ रहा है। कुछ फ़िल्मों के तो शीर्षक चांद पर रखे गए, मगर आज तक चांद को फ़िल्मों में एक भी ढंग का रोल नहीं मिला। करीब-करीब जूनियर आर्टिस्ट की हैसियत रही है फ़िल्मों में चांद की।

किसी फ़िल्म में नायिका के मुखड़े का डुप्लीकेट का रोल मिल गया तो किसी फ़िल्म में नायक-नायिका के पैगाम एक-दूसरे तक पहुंचाने का रोल मिल गया, ज्यादा करा तो दो प्रेमियों के प्रेम का मूक गवाह बनाकर खड़ा कर दिया। वह मूक फ़िल्मों में भी मूक रोल करता था। आज बोलती फ़िल्मों में भी मूक रोल कर रहा है।

कल की नन्हीं-सी बालिका, जो चांद को मामा कहकर बुलाती थी, आज बड़ी होकर मामा के हाथ अपने प्रेमी को धड़ल्ले से पैगाम भेजती है। न लाज, न लिहाज़, कल मामा बनाया, आज पोस्टमैन बना दिया। जितना अपमान फ़िल्मों में चांद का हुआ है, उतना किसी कलाकार का नहीं हुआ। सॉरी भाई चांद!

नायिका भेद

डिक्शनरी के हिसाब से नायिका के कई मतलब होते हैं, जैसे वह स्त्री, जो यौवन तथा रूप, गुण संपन्न हो, वह स्त्री जो नाटक, उपन्यास आदि की प्रधान पात्र हो, वह स्त्री जो नायक की पत्नी या प्रेमिका हो, वह स्त्री जो राह दिखाने वाली या कहीं पहुंचाने वाली हो। डिक्शनरी में बताई गई नायिका से फ़िल्मों की नायिका की तुलना करें तो फ़िल्मों की कुछ प्रमुख नायिकाओं की प्रमुख विशेषताओं के बारे में निर्मल मन से निर्मल चर्चा करेंगे। पाठकों की सुविधा के लिए उनको निम्न भागों में बांटेंगे–

जनरल नायिका

नायिकाओं में एक नायिका होती है जनरल नायिका, जैसे जनरल स्टोर। जिस तरह जनरल स्टोर में सब सामान मिलता है, वैसे ही जनरल नायिका में सब गुण मिलते हैं। चंचल वह, गंभीर वह, त्याग और मर्यादा की साक्षात मूर्ति वह, यौवन उसमें, रूप और गुण उसमें। जनरल नायिका की एक विशेषता यह होती है कि उसमें एक विशेषता नहीं होती, बल्कि सभी विशेषताएं होती हैं। निदेशक अपनी सुविधा से, जब चाहे उसके त्याग और मर्यादा के गुण को भुना सकता है और जब चाहे उसके यौवन और नृत्य को कैश करा सकता है। आजकल जनरल नायिका कुछ ज्यादा ही जनरल हो गई है। उधर हर मोहल्ले में जनरल स्टोर खुल गया है, इधर हर फ़िल्म में जनरल नायिका पाई जाने लगी है।

पारिवारिक नायिका

पारिवारिक नायिका पारिवारिक फ़िल्मों में पाई जाती है। यह घरेलू किस्म की सती-सावित्री औरत होती है। जब पतिव्रता होने पर उतारू होती है तो इतनी पतिव्रता हो जाती है कि अपने पति को भी हाथ नहीं लगाने देती। इसमें अत्याचार सहने की गजब की शक्ति होती है। हिन्दुस्तानी सास ऐसी बहू को पर्दे पर देखकर ठंडी आहें भरती है और अपनी बहू से उम्मीद करती है कि वह इस देवी से कुछ सीखे।

पारिवारिक नायिका लोरी और आरती गाने में विशेषज्ञ होती है। उसने भक्ति में डूबी आरतियां गाकर कई भगवानों को प्रसन्न किया। ममता में डूबी लोरियां गाकर कई बच्चों को मीठी नींद सुलाया। अब वही बच्चे जागकर बड़े हुए तो डिस्को और पॉप म्यूजिक के रंग में रंग गए। वे आरती और लोरी के नाम से दूर भागने लगे।

पारिवारिक नायिका का भूतकाल भले ही गौरवशाली रहा हो, लेकिन उसका भविष्य अंधकारमय लगता है क्योंकि युवा वर्ग को चाहिए, डिस्को और पॉप म्यूजिक। पारिवारिक नायिका को फ़िल्मों में बने रहना है तो उसे अपने आप को बदलना होगा। उसे ‘डिस्को-आरती’ और ‘पॉप-लोरी’ गानी होगी।

कॉलेज जाने वाली नायिका

कॉलेज जाने वाली नायिका में डिक्शनरी में बताई गई नायिका की तरह यौवन और रूप भरपूर मात्रा में पाया जाता है। जहां तक गुण संपन्न होने का सवाल है तो अभी उसमें समय लगेगा और हाल-फिलहाल उसको इसकी जरूरत भी नहीं है।

कॉलेज जाने वाली नायिका, कॉलेज की यूनीफार्म पहनने में विश्वास नहीं करती। वह वहां पढ़ने या पढ़ाने नहीं, बल्कि नायक की नींद और बाकी विद्यार्थियों के होश उड़ाने जाती है। वह वहां डिग्री नहीं, नायक का दिल लेने जाती है।

कॉलेज जाने वाली नायिका स्क्रीन पर नई नहीं है। फ़िल्म 'मेरे महबूब' में नायिका साधना और नायक राजेन्द्र कुमार टकराए तो एक अमर गीत का जन्म हुआ-'मेरे महबूब, तुझे मेरी मोहब्बत की कसम...' और कॉलेज में टकराने की स्वस्थ परपंरा को जन्म दिया, जो कई सालों तक चली।... हाय! कहां गए वो लोग और कहां गया वह टकराना।

गांव की नायिका

गांव की नायिका अकसर झील या पहाड़ी के उस पार रहा करती है, जो कहानी की डिमांड के हिसाब से कभी इस पार आ जाती है। अगर वह इस पार नहीं आ सकी तो नायक उस पार पहुंच जाता है। उसका जूड़ा बड़ा और घाघरी छोटी होती है। निर्देशक के अनुसार वह भोली और नादान होती है, जब कि लगती कहीं से भी नहीं है।

इसका रूप-यौवन डिक्शनरी वाली नायिका के जोड़ का होता है। यह जब भी दिखती है, पनघट या खेतों में दिखती है। गांव की नायिका का घर में क्या काम? गांव की नायिका उसी गांव में होती है, जिस गांव में एक दुष्ट लाला और एक जालिम ठाकुर होता है। नायिका का गांव बड़ा प्यारा होता है, जो किसी एंगल से कश्मीर लगता है तो किसी एंगल से दार्जिलिंग लगता है।

गांव की नायिका ज्यादातर अपना दिल किसी परदेसी को देती है। इसी उम्मीद में कई शहरी युवकों ने गांव की तरफ प्रस्थान किया। पिकनिक के प्रोग्राम बनाए, लेकिन सबको निराश लौटना पड़ा क्योंकि फ़िल्मी गांव की नायिका, फ़िल्मी गांवों में ही पाई जाती है, गांवों में नहीं।

नहाने वाली नायिका

नहाने वाली नायिका का फ़िल्मों को चलाने में बड़ा योगदान रहा है। जिस-जिस फ़िल्म में नायिका नहाई, उस-उस फ़िल्म ने जुबली मनाई। इसलिए यह कहा जाने लगा कि नहाना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है।

नहाने वाली नायिका का अपना इतिहास रहा है। पहले वह भीगने वाली नायिका हुआ करती थी-'एक लड़की भीगी-भागी सी।' जितना मजा नायिका को भीगने में आता, लगभग उससे दुगना मजा दर्शकों को देखने में आता। नतीजा, नायिकाओं में भीगने की होड़ लग गईं। एक साड़ी में भीग रही है तो दूसरी सलवार-कमीज में भीग रही है। उस होड़ को खत्म करने के लिए ही नहाने वाली नायिका ने अवतार लिया, बिकनी में नहाने वाली नायिका के रूप में, जिसका भारतीय

रजत-पट पर काफी समय तक एकछत्र राज रहा।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। एक दिन नहाने वाली नायिका की नई पीढ़ी ने यानी तैरने वाली नायिका ने रजत-पट पर कदम रखा तो नहाने वाली नायिका का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। वह स्वीमिंग सूट पहन कर स्वीमिंग पूल में क्या उतरी, दर्शकों के दिलों में उतर गई।

नर्तकी नायिका

नर्तकी नायिका का उद्भव कोठे पर हुआ। उसने कई साल तक स्क्रीन पर राज किया। कभी 'देवदास' की चन्द्रमुखी बनकर, कभी 'पाक़ीज़ा' की पाक़ीज़ा बनकर, तो कभी 'मुकद्दर का सिकंदर' की जोहरा बनकर। रूप-यौवन में वह डिक्शनरी वाली नायिका पर भी भारी पड़ती थी, लेकिन डिक्शनरी वाली नायिका की तरह राह दिखाने वाली या कहीं पहुंचाने वाली नायिका नहीं बन सकी, क्योंकि वह कोठे पर रहने वाली होती थी।

नर्तकी नायिका दर्शकों के दिलों में तो घर बनाने में सफल रही, लेकिन अपना घर कभी नहीं बसा सकी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परिवर्तन प्रकृति का नियम है। नायिका में परिवर्तन आया, फिर नृत्य में परिवर्तन आया। पहले नायिका कोठे पर नाचती थी, आजकल कॉलेज में नाचती है। पहले अकेली नाचती थी, अब भीड़ के साथ नाचती है। पहले नर्तकी नायिका होती थी, आजकल नायिका सिर्फ नर्तकी बनकर रह गई है।

बिंदास छप्पन-छुरी नायिका

फ़िल्मों में एक बिंदास-छप्पन छुरी किस्म की नायिका होती है। वह जेब भी काटती है, लोगों के साथ फांदेबाजी भी करती है, लेकिन इज़्ज़त के मामले में एकदम कोरी निकोर, सती सावित्री। रूप-यौवन में डिक्शनरी वाली नायिका के माफ़िक, गुण संपन्न होने के मामले में भी वह डिक्शनरी वाली नायिका जैसी ही होती है। आप पूछेंगे, वह जेब क्यों काटती है तो अपने लिए थोड़े ही काटती है। फांदेबाजी करती है तो अपने स्वार्थ के लिए थोड़े ही करती है, अपनी बीमार मां के इलाज के लिए करती है। बेचारी बिंदास-छप्पन छुरी नायिका को एक बीमार मां विरासत में मिलती है।

यूं समझ लीजिए कि यह बिंदास-छप्पन छुरी किस्म की नायिका आवारा और छलिया किस्म के नायक का स्त्री संस्करण है। कभी-कभी तो यह नायिका लड़के का भेस बदलकर रहती है और फुटपाथ पर सोती है। नायक को महीनों तक पता ही नहीं चलता कि वह लड़की है। वह तो एक दिन अचानक बिजली कड़कने से डरकर नायक से चिपकती है तो पता चलता है कि वह लड़का नहीं है, रूप-यौवन और गुण संपन्न नायिका है।

प्रेम त्रिकोण फ़िल्म की नायिका

प्रेम त्रिकोण फ़िल्म की नायिका, वह नायिका होती है जिससे दो-दो नायक प्रेम करते हैं। ऐसी नायिका बड़ी भाग्यशाली होती है। एक प्रेमी नालायक निकल जाए तो दूसरा तैयार बैठा है अपनाने के लिए। जिस प्रेमी को वह मिलती है, वह प्रेमी भी जिन्दगी-भर उसके अहसान तले दबा हुआ, व्यवहार करता है। पता नहीं कब ये ताना सुनने को मिल जाए कि मेरे लिए दूल्हों की कोई कमी थोड़े ही थी। वह तुम्हारा दोस्त गोपाल, तुमसे ज्यादा पढ़ा-लिखा और पैसे वाला था, मुझ पर जान छिड़कता था। शुक्र मानो कि मैंने तुमसे शादी की, वरना आज मुझे भाभी कह के पुकार रहे होते।

'अंदाज', 'चौदहवीं का चांद' और 'संगम' ऐसी ही फ़िल्में थीं। मैंने ये फ़िल्में बचपन में देखी थीं। नरगिस जी, वहीदा रहमान जी और वैजयंती माला जी से दो-दो नायक प्रेम करते थे। इसके बावजूद उन्होंने दुखी गाने गाए तो मुझे बड़ी हैरानी हुई थी कि वे क्यों रो रही हैं, उनके तो दोनों हाथों में लड्डू हैं।

कला फ़िल्म की नायिका

कला फ़िल्म की नायिका एक अभिशापित नायिका होती है, ना तो वह गाना गा सकती है, ना वह नाच सकती है, ना ठीक से सिंगार कर सकती है। डिक्शनरी में बताई गई नायिका जैसा रूप और यौवन तो उसमें होता है, लेकिन कला फ़िल्म का निर्देशक उसे ढंग के कपड़े तक नहीं पहनने देता। उसका रूप और यौवन भाड़ में चला जाता है, न नायक के काम आता है, न दर्शक के काम आता है।

रही बात डिक्शनरी में बताई गई नायिका की तरह गुण संपन्न होने की, तो गुण तो उसमें होते हैं लेकिन आज के जमाने में गुण देखता कौन है, वह भी नायिका में। नायिका में लोग अदा देखने जाते हैं, जलवा देखने जाते हैं, ठुमका देखने जाते हैं, गुण की ऐसी-तैसी!

घमंडी नायिका

फ़िल्मों में घमंडी नायिका की शुरुआत 'आन' फ़िल्म से मानी जाती है, जिसमें घमंडी राजकुमारी नादिरा का घमंड दिलीप कुमार तोड़ता है। वैसे इस तरह की नायिका कोई राजकुमारी या रईसजादी ही होती है। एक तो खुद किसी आफत से कम नहीं होती, ऊपर से उसके रईस बाप का डर अलग से। कौन मधुमक्खियों के छत्ते में हाथ डाले।

उसके अपने लक्षणों से तो लगता है कि वह घमंडी नायिका कुंवारी ही मरेगी लेकिन नहीं, आखिर नायक किस मर्ज की दवा है। फ़िल्म की तीसरी रील में वह उस खूंखार शेरनी को गऊ बना देता है। नायिका का बाप हैरान, दर्शक बाग-बाग, ऐसे, जैसे किसी दस्यु-सुन्दरी के आत्मसमर्पण करने पर पुलिस बाग-बाग होती है। डिक्शनरी में बताया गया घमंडी नायिका का रूप हंटर को छोड़कर मेहंदी रचा लेता है और यौवन घोड़े से उतरकर सेज पर जा बैठता है। ऑल क्रेडिट गोज टू नायक बट आई नो, यह सब उम्र का तक़ाज़ा था।

नायक भेद

लिटरेचर में बताए गए नायक चार तरह के होते हैं, लेकिन फ़िल्मों के नायक चार सौ बीस तरह के होते हैं। लिटरेचर के नायकों के काम बड़े सीधे होते हैं, लेकिन नाम बड़े मुश्किल। उनके नाम सुनके आदमी भाग खड़ा होता है, जैसे 1. धीरोदत्त, 2. धीरोद्धत, 3. धीरललित और 4. धीरशान्त। फ़िल्मी नायकों के काम भले ही कैसे भी हों, लेकिन नाम बड़े सीधे और सरल होते हैं, जैसे रोमांटिक नायक, सिंगर नायक, फाइटर नायक, पारिवारिक नायक, ऐतिहासिक नायक वगैरह-वगैरह।

वैसे तो पूरी दुनिया भेदभाव से भरी पड़ी है, लेकिन हमारे फ़िल्मी नायकों में भेदभाव कम ही पाए जाते हैं। कभी गौर से देखें तो एक नायक और दूसरे नायक में जरा-सा फर्क नज़र आता है। उसी फर्क के हिसाब से कुछ छंटे-छंटाए नायक प्रस्तुत हैं–

रोमांटिक नायक

एक रोमांटिक किस्म का नायक होता है, वैसे तो नायक कहने का मतलब ही होता है, रोमांटिक होना। रोमांस करना नायक का जन्म सिद्ध अधिकार होता है और नायक अगर रोमांटिक हो तो फिर कहने ही क्या? एक तो करेला और ऊपर से नीम चढ़ा। बढ़िया कपड़े पहने, हाथ में एक गिटार लिया और चल पड़े रोमांस करने। न पढ़ाई, न नौकरी, बस एक ही धंधा, रोमांस। फ़िल्मों में दूसरे नायक भी रोमांस करते हैं, लेकिन वे रोमांस के साथ-साथ और काम भी करते हैं, जैसे एक बदले की कहानी का नायक रोमांस भी करेगा, लेकिन साथ में अपने बाप का बदला भी लेगा। एक पारिवारिक फ़िल्म का नायक शाम के वक्त रोमांस करेगा, लेकिन साथ में ऑफिस भी जाएगा। मगर रोमांटिक नायक को रोमांस के अलावा कुछ भी करने की छूट नहीं है। वह जागेगा तो रोमांस के सपने देखेगा। एकदम ट्वेन्टी फोर आवर जॉब! नो छुट्टी! नो आराम! उसकी शिक्षा, उसकी जवानी और उसकी पूरी ज़िंदगी का एकमात्र उद्देश्य होता है, नायिका को दिल देना और नायिका का दिल लेना। उसके लिए शिक्षित होने का मतलब है, नायिका के लायक बनना। उसके लिए जवान होने का एकमात्र उपयोग है, नायिका के साथ युगल गीत गाना। उसके जन्म लेने का एक और सिर्फ एक मकसद होता है, प्यार में जीना और प्यार में मरना।

पारिवारिक नायक

पारिवारिक नायक उसे कहते हैं जो जाना-पहचाना-सा लगे, हममें से एक लगे, न कि महामानव या सुपर ह्यूमन लगे। हालांकि भारतीय फ़िल्मों का नायक साधारण-सा लगे, यह बात कुछ जमती नहीं। पारिवारिक नायक बनने के लिए कलाकार का अच्छा अभिनेता होना जरूरी है। स्व. मोतीलाल, स्व. बलराज साहनी, स्व. संजीव कुमार और अमोल पालेकर पारिवारिक नायकों में बड़े फिट बैठते थे।

आज अमिताभ बच्चन या धर्मेन्द्र को कोई निर्माता 'छोटी-सी बात' फ़िल्म में ऑफिस में काम करने वाले क्लर्क की भूमिका में नायक लेकर देखे, दर्शक सिनेमा हॉल की तरफ मुंह तक नहीं

करेगा। उसके लिए अमोल पालेकर जैसा पारिवारिक नायक ही लेना पड़ेगा, जिसे बॉस डांट सके। अब अमिताभ को बॉस डांटेगा तो दर्शक बर्दाश्त थोड़े ही करेगा। ठीक वैसे ही अमोल पालेकर अगर धर्मेन्द्र या अमिताभ की तरह अमरीश पुरी को घूंसा मारेगा तो आप क्या समझते हैं, दर्शक ताली बजाएगा। वह ताली नहीं बजाएगा, अपना सिर पीट लेगा। घोड़ा घोड़े की जगह ठीक लगता है, गधा गधे की जगह ठीक लगता है।

गायक नायक

जैसा कि नाम से ही प्रकट है, म्यूजिकल फ़िल्म का नायक ही गायक नायक होता है। आठ-दस हिट गानों से भरपूर कहानी में थोड़ा प्यार का तड़का दे दिया जाता है। एक लड़की गायक नायक से प्यार करती है और गायक नायक संगीत से प्यार करता है। बस, बन गई कहानी।

गायक नायक वाली फ़िल्मों में पहले 'बैजू-बावरा' और 'तानसेन' जैसी फ़िल्में बनती थीं। भारत भूषण परमानेन्ट गायक नायक बनते थे। संगीत को समझने वाले श्रोता होते थे तो फ़िल्में भी खूब चलती थीं। फिर जमाना बदला, तानपूरा लिए एक ही जगह बैठा गायक नायक कुछ सुस्त सा लगने लगा।

तो उसके हाथों में गिटार थमा दिया और स्टेज पर खड़ा कर दिया। वह मॉडर्न गायक नायक हो गया। अपने अस्तित्व को बचा लिया। वह नायक भी काफी चला, फिर उसी नायक ने गाने के साथ-साथ स्टेज पर ठुमका भी लगा दिया तो एक नाचते-गाते नायक का जन्म हुआ। शम्मी कपूर, मिथुन चक्रवर्ती और ऋषि कपूर ने भारत भूषण के वंश को आगे बढ़ाया। कुछ दिन बाद वह नायक भी सुस्त लगने लगा तो देखते-ही-देखते नाचता-गाता नायक स्टेज छोड़कर सड़क पर उतर आया। अब वह गाता कम है चीखता ज्यादा है, नाचता कम है उछलता ज्यादा है, लेकिन टॉप में चल रहा है।

हीमैन नायक

हीमैन कहते ही एक ही शख्स का ख्याल आता है, धर्मेन्द्र का। चेहरा उतना ही सुन्दर, जितना कि जिस्म और जिस्म उतना ही सुन्दर, जितना कि मन। गंभीर अभिनय के साथ कॉमेडी का बढ़िया मिश्रण। धर्मेन्द्र आते ही निर्माताओं का चहेता बन गया। नायिकाएं हीमैन के साथ काम करने के लिए अपने रेट आधे कर दिया करती थीं।

हीमैन नायक के आने का सबसे बड़ा फायदा फाइट मास्टर को हुआ। पहले दस में से एक-आध फ़िल्म में एक फाइट होती थी। अब एक-एक फ़िल्म में दस-दस फाइट्स होने लगीं। फाइट मास्टर, एक्शन निर्देशक कहलाने लगा और कारों में चलने लगा। पहली बार खलनायकों को पिटने में मजा आया कि एक हीमैन से पिट रहे हैं, किसी सींकिया पहलवान से नहीं।

'फूल और पत्थर', 'आया सावन झूम के' और 'धर्मवीर' आदि फ़िल्मों में हीमैन नायक धर्मेन्द्र से बाकायदा अंग प्रदर्शन करवाया गया जैसे कि नायिकाओं से करवाया जाता है। पता

नहीं उस अंग प्रदर्शन का देश के ललनाओं पर असर पड़ा कि नहीं, लेकिन युवा दर्शकों पर खूब प्रभाव पड़ा। वे अखाड़ों और ज़िम में जाने लगे, केश सज्जा छोड़कर, शरीर सौष्ठव पर ज्यादा ध्यान देने लगे।

फरिश्ता टाइप नायक

फ़िल्मों में एक रॉबिनहुड जैसा फरिश्ता टाइप नायक आया, जो हमारे बालकों और बाल बुद्धि वाले दर्शकों को बहुत पसंद आया। कहीं किसी गरीब पर अत्याचार होते हुए दिखा नहीं कि यह फरिश्ता टाइप आँखों पर नकाब पहन के प्रकट हो जाता है, सिनेमा हॉल तालियों से गूंज उठता है। कभी रॉबिनहुड, तो कभी सुपरमैन बनकर आज भी वह फरिश्ता टाइप नायक अस्तित्व में है।

गरीबों का हमदर्द, कमजोरों का दोस्त, यह नायक अमीरों को लूटकर सारा पैसा गरीबों में बांट देता है। अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखता, हालांकि रख भी ले तो उससे हिसाब मांगने वाला कौन है।

इसी नायक के कारण गरीब ने आज तक क्रांति नहीं की। उसने गरीब को एक उम्मीद थमा दी। एक इलूजन पकड़ा दिया कि ''मैं हूं ना।'' उससे उसकी कोशिश छीन ली। जब भी गरीब तकलीफ में पड़ता है तो वह हाथ-पर-हाथ धरे किसी सुपरमैन का, किसी रॉबिनहुड का इंतजार करता है। वह निश्चिंत होता है, अब तक तो रॉबिनहुड घर से निकल चुका होगा! बस, पहुंचने ही वाला है।

ट्रैजिक हीरो

सिनेमा के शुरुआती दौर में ट्रैजेडी फ़िल्मों का बोलबाला था। के. एल. सहगल, दिलीप कुमार को ट्रैजिक नायक का रोल करने में महारत हासिल थी। दिलीप कुमार को तो 'ट्रैजेडी किंग' तक कहा जाने लगा।

साहित्य वाले धीरोदत्त नायक के सारे गुण दुखी नायक में होते हैं। धीर, विनम्र और क्षमाशील, अपने दु:ख को हमेशा दाढ़ी बढ़ाकर प्रकट किया, कभी मुंह से बोल के अपने दु:ख को नहीं कहा। अपने प्रेम की दुनिया उजाड़ने वाले को उसने हमेशा माफ किया, कभी बदला नहीं लिया। ऐसा प्रात: स्मरणीय होता है ट्रैजिक हीरो। आजकल दर्शकों की उपेक्षा के कारण प्राय: लुप्त-सा है। यही हालात रहे तो एक दिन डायनासोर की तरह हमेशा के लिए लुप्त हो जाएगा।

ऐतिहासिक नायक

रोमांटिक और दु:खी नायकों के जमाने में ही एक और नायक ने दर्शकों को बड़ा प्रभावित किया। वह था ऐतिहासिक नायक, प्राण जाए पर वचन न जाए वाला नायक, हाथ में तलवार और होंठों पर लम्बे-लम्बे डायलॉग। पृथ्वीराज कपूर, सोहराब मोदी, जयराज के रूप में ऐतिहासिक

नायक जीवंत हो उठता था। बाद के दिनों में प्रदीप कुमार, रहमान ने जब भी शाही कपड़े पहने तो खूब फबे।

लंबे समय तक पर्दे के ऐतिहासिक नायक ने हमारे युवा दर्शकों की भुजाओं को फड़काया, खून को उबाल दिया, लेकिन वातावरण में कहीं भी वीरता या युद्ध के लक्षण नहीं होने के कारण ऐतिहासिक नायक का दर्शकों से तादात्मय टूट गया, फलस्वरूप ऐतिहासिक नायक स्वयं इतिहास हो गया। अब गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा? वैसे भी वर्तमान समय के नायक से दर्शक का बढ़िया काम चल ही रहा है।

एंग्री यंग मैन हीरो

एंग्री यंग मैन हीरो के आगमन से पहले मजदूर मालिक से नाराज था, किसान जमींदार से नाराज था, विद्यार्थी मास्टर के प्रति और आम आदमी सरकार के प्रति गुस्से में भरा बैठा था। एंग्री यंग मैन हीरो ने आते ही जैसे सबका बदला ले लिया। उधर अमिताभ बच्चन जैसा पॉवरफुल अभिनेता और ऊपर से एंग्री यंग मैन की इमेज़ वाला हीरो आया। फ़िल्म वालों ने लोगों के 'एंगर' को थोक में कैश किया। एंग्री यंग मैन ने घूंसे भी चलाए तो खूब चलाए और डायलॉग भी मारे तो खूब मारे। सबके गुस्से का रेचन हो गया।

दुनिया एंग्री यंग मैन से नाराज रहती है तो एंग्री यंग मैन भगवान समेत पूरी दुनिया से नाराज रहता है। भगवान से वह पॉवरफुल संवादों से निपटता है और दुनिया से पॉवरफुल घूंसों से।

पारिवारिक नायक अपनी जगह ठीक है तो एंग्री यंग मैन हीरो अपनी जगह पर ठीक है। दर्शक एंग्री यंगमैन से एंग्री यंगमैन जैसे व्यवहार की आशा रखता है। अमिताभ बच्चन को किसी फ़िल्म में बॉस डांटेगा तो दर्शक से बर्दाश्त नहीं होगा। वह अमिताभ से अपेक्षा करेगा कि खींच के एक घूंसा मारे बॉस को, घूंसा नहीं तो कम-से-कम बॉस का कॉलर पकड़कर दो-चार डायलॉग ही मार दे, लेकिन दर्शक यह अपेक्षा अमोल पालेकर से नहीं रख सकता।

प्रति नायक

एन्टी नायक, यानी प्रति नायक। प्रतिनायक का आगमन पर्दे पर यूं तो बहुत पहले हो चुका था। 'चंद्रलेखा' में रंजन, 'मदर इंडिया' में सुनील दत्त, 'मिस्टर संपत' में मोतीलाल, 'दिल दिया दर्द लिया' में दिलीप कुमार वगैरह-वगैरह, लेकिन हाल के दिनों में प्रति नायक खूब फला-फूला है। शाहरुख खान की 'बाजीगर' फ़िल्म के बाद तो प्रतिनायक लोकप्रियता के शिखर पर पहुंच गया।

साहित्य में बताए गए चारों नायकों से प्रति नायक के लक्षण मिलते हैं। धीरोद्धत से, यानी क्रोधी और चपल से। दक्षिण नायक से, यानी सभी प्रेमिकाओं से समान प्रेम करने वाले नायक से। धृष्ट नायक से, यानी साहसी और निर्दयी से और शठ नायक से, यानी धूर्त, छलिया और नकली प्रेम करने वाले नायक से।

हिन्दी फ़िल्मों का नायक इतना नीचे गिर जाएगा। उससे हमें ऐसी उम्मीद नहीं थी। अब क्या है कि दुनिया में हर तरफ वैल्यूज़ में गिरावट आई है तो शायद इसलिए नायक में भी गिरावट आ गई और वह प्रतिनायक बन गया। हमारा भारतीय दर्शक हर गिरी हुई चीज से नफरत करता है, लेकिन हमारा नायक कितना ही गिर जाए, वह उससे नफरत नहीं करता, उल्टे उसकी हौसला अफज़ाई करता है। यही कारण है कि आज हमारा नायक बिगड़कर दो कौड़ी का हो गया है।

चॉकलेटी हीरो

चॉकलेटी हीरो मतलब, गोरा-चिट्टा, एकदम चिकना नौजवान। एक बार तो देखकर गलतफहमी हो जाए कि यह लड़का है या किसी लड़की ने लड़के का भेस धर लिया है। अभिनय के नाम पर उसे आत्मविश्वास के साथ मुस्कुराना आना चाहिए। मुझे आज तक समझ में नहीं आया कि चॉकलेटी हीरो को चॉकलेटी हीरो कहना, उसकी हंसी उड़ाना है या उसकी तारीफ करना है। चॉकलेटी हीरो को आते ही फ़िल्मों में चांस मिल जाता है और अकसर खप जाता है, क्योंकि दिखने में सुदर्शन होता है। इसी कारण दर्शक भी उसे स्वीकार कर लेता है। रही बात अभिनय की कि उसे आता है या नहीं, इस बात का पता चले तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। वह एक-दो फ़िल्मों में आ चुका होता है और कई फ़िल्में साइन कर चुका होता है। अब वह नायक है और आगे भी रहेगा। फ़िल्मों में राजनीति वाला टुच्चापन नहीं है कि एक बार कुर्सी से हटे नहीं कि भूतपूर्व हो गए।

खलनायक भेद

हमारी फ़िल्मों में नायकों की ही तरह कई तरह के खलनायक (विलेन) पाए जाते हैं। कुछ खास-खास खलनायकों की नस्ल इस प्रकार है–

खानदानी खलनायक

एक होता है खानदानी खलनायक। खानदानी खलनायक यानी जिस फ़िल्म में पूरा खानदान ही खलनायकों से भरा पड़ा हो। बाप भी खलनायक, बेटा भी खलनायक, उनके नौकर चमचे सब खलनायक। बाप मुजरा देखे तो बेटे को एतराज नहीं और बेटा बलात्कार कर ले तो बाप को शिकायत नहीं, न आँख की शर्म न लाज-लिहाज।

खानदानी खलनायक के परिवार की एकता टच वुड देखते ही बनती है। एक साथ जीते हैं और एक साथ लड़ते हैं और अंत में जब खानदानी खलनायक जेल या परलोक जाता है तो सपरिवार जाता है। मजाल है कि कोई पीछे छूट जाए।

नायिका को पाने का इच्छुक खलनायक

एक खलनायक होता है, जो किसी भी तरह से बाइ हुक एण्ड क्रुक नायिका को पाना चाहता है उसका पीछा करता है, चालें चलता है। वही सब कुछ करता है जो नायक करता है, सिर्फ गाना नहीं गाता। क्या सिर्फ इसलिए उसे खलनायक कहना उसके साथ अन्याय नहीं होगा?

और वैसे भी 'एवरी थिंग इज फेयर इन लव एण्ड वार'– प्रेम और युद्ध में सब जायज है, वाले सिद्धान्त को देखें तो वह नैतिक रूप से बिल्कुल दोषी नहीं है। लोकतंत्र में सबको प्रेम करने का और जिससे प्रेम किया है, उसको पाने का बराबर का हक है। चाहे वह नायक हो, चाहे खलनायक।

अब समय आ गया है, ऐसे खलनायक को, खलनायक कहना चाहिए या नहीं? इस सवाल के जवाब के लिए एक समिति बनाई जानी चाहिए। एक आयोग बिठाया जाना चाहिए, ताकि इस नस्ल के खलनायक के साथ न्याय किया जा सके, कम-से-कम उसका नाम बदलकर रोमांटिक खलनायक तो कर ही देना चाहिए।

नायक नायिका को मिलने नहीं देने वाला खलनायक

फ़िल्मों में एक खलनायक ऐसा भी होता है, जो अपनी पूरी ऊर्जा इस बात में लगाए रहता है कि नायक को नायिका नहीं मिलनी चाहिए। उसमें उसका अपना कोई नफा या नुकसान नहीं होता। ऐसे नि:स्वार्थी, ऐसे परोपकारी खलनायक हमारे समाज में थोक में पाए जाते हैं। कहीं कोई सुखी न हो जाए, कहीं कोई तरक्की न कर जाए, कहीं दो चाहने वालों का मिलन न हो जाए, इसमें अपना नि:स्वार्थ सहयोग देने के लिए वे हमेशा तैयार मिलते हैं। हमारे देश में शिष्टमंडल

बहुत हैं। कोई शिष्टमंडल जाए और इस नस्ल के खलनायक से पूछे कि हे परोपकारी खलनायक! तू अपने काम का हर्जा करके दूसरे का बनता काम बिगाड़ता है। इससे तुझको मिलता क्या है? तू इतना सेडिस्ट क्यों है? कोई हंसता-खेलता, नाचता-गाता तुझे अच्छा क्यों नहीं लगता? यह तेरी ड्यूटी है या हॉबी है?

सर्वदुर्गुण सम्पन्न खलनायक

हमारी फ़िल्मों का हर नायक सर्वगुण संपन्न होता है, लेकिन सर्वदुर्गुण सम्पन्न खलनायक किसी-किसी फ़िल्म में पाया जाता है। क्या-क्या नहीं करता वह? स्मगलिंग वह करता है, खुफ़िया नक्शे और देश का राज, दुश्मन देशों को वह बेचता है, हेरोइन और कोकीन का व्यापार वह करता है, कामी वह, क्रोधी वह, बलात्कार स्पेशलिस्ट वह। कोई उससे भी पूछे कि हे सर्वदुर्गुण सम्पन्न खलनायक! नायक के हाथों मारे जाने के लिए एक ही दुर्गुण काफी होता है, एक जान देने के लिए इतने सारे झंझट क्यों पाल रखे हैं?

शायद मल्टीस्टार कास्ट को बैलेंस करने के लिए ऐसा किया जाता है। फ़िल्म के नायक में जितने गुण, खलनायक में उतने ही दुर्गुण। हालांकि जो जितना बड़ा खलनायक होता है, वह उतनी ही बुरी मौत मरता है मगर जीते जी वह इतने मजे लूट चुका होता है, जितने नायक को पूरी फ़िल्म में नसीब नहीं होते।

नेता खलनायक

फ़िल्मों को बनते हुए सौ साल पूरे हो गए हैं, लेकिन फ़िल्मों में नेता खलनायक को आए हुए मुश्किल से कुछ साल हुए हैं, उसे अभी बहुत कुछ सीखना है। अभी फ़िल्मों में उसका शैशव काल चल रहा है। खलनायक के असली कद तक पहुंचने में इस नेता खलनायक को अभी टाइम लगेगा।

नेता खलनायक की शुरुआत कोई बहुत आशाजनक नहीं रही है। वह परंपरागत खलनायक की नकल करता हुआ-सा लगता है। गरीबों की झोपड़-पट्टी जलवाता है, नाच-गाना देखता है। उसे हवाला की एबीसीडी नहीं आती, वह करोड़ों के घोटालों से बिल्कुल अपरिचित है, उसे यहां तक पहुंचने के लिए एक लंबी दूरी तय करनी है, जिसके लिए ज़रूरत है, लगन, मेहनत और खाने-पीने-चरने की प्रेक्टिस की। नेता खलनायक को हमारे नेताओं से कुछ सीखना चाहिए।

नायक जैसा खलनायक

नायक जैसा खलनायक, नायक और खलनायक की क्रॉस-ब्रीड होता है। यह अकसर कई सीनों में नायक पर भारी पड़ता है, पर्दे पर आते ही तालियां बजवा लेता है। ऐसे खलनायक का रोल करने वाले कलाकारों को आगे चलकर नायक के लिए प्रमोट भी किया गया है, जैसे विनोद खन्ना और शत्रुघ्न सिन्हा।

इसे आप साइड नायक नहीं कह सकते। साइड नायक कहना, इसका अपमान है और ना ही इसे चौबीस कैरेट खलनायक कह सकते हैं, क्योंकि इसके पर्दे पर अवतरित होते ही पब्लिक तालियां जो बजाती है, फिर आगे चलकर इस 'नायक जैसे खलनायक' ने तरक्की करके 'एन्टी नायक' का रूप धर लिया। इस रूप में यह बहुत खुश है, क्योंकि अब यह नाच सकता है, गा सकता है, नायक की तरह सम्मान पा सकता है, सारे बुरे काम करने के बावजूद।

कॉमेडियन खलनायक

नायक जैसे खलनायक से भी ज्यादा, दर्शकों ने अगर किसी को पसंद किया है तो वह है, 'कॉमेडियन खलनायक।' टू इन वन अंदाज 'कॉमेडियन' का, काम 'खलनायक' का। खलनायक के प्रति जो नफरत होती थी, उस नफरत को 'कॉमेडियन खलनायक' ने लोगों के दिल से निकाल दिया। यह नायिका को भले ही रुलाता है, लेकिन दर्शकों को हंसाता है।

'कॉमेडियन खलनायक' की थोक में शुरुआत हुई, कादर खान और शक्ति कपूर के आने से। इनके आने से रूखे-सूखे खलनायकों की डिमान्ड खत्म हो गई और रणजीत जैसे कई खलनायक पर्दे के पीछे खदेड़ दिए गए।

लेकिन क्या यह खलनायक की जीत है? नहीं, यह जीत है कॉमेडी की, यह जीत है हास्य की, हास्य मेव जयते!

खलनायक का पैसा प्रेम

खलनायक का 'पैसा-प्रेम' जगजाहिर है। हमेशा हाय पैसा-हाय पैसा करता ही रहता है और क्यों न करे? हम सभी तो करते हैं। यह अर्थ प्रधान युग जो है। पैसे का जमाना है तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि हम सब खलनायक हैं। इस पर भी विचार करना चाहिए।

आप कोई भी फ़िल्म देख लें। गरीब नायक मिल जाएगा, गरीब नायिका मिल जाएगी, लेकिन किसी फ़िल्म में गरीब खलनायक नहीं मिलेगा। गरीब क्या खाकर खलनायक बनेगा? मतलब यह कि खलनायक हमेशा पैसे वाला होता है।

फिर वह, और पैसों के लिए लोगों की जान लेता है और अन्त में और अधिक पैसों के लिए अपनी जान दे भी देता है। यहां खलनायक हमें नायक से भी बड़ा संदेशा दे जाता है। नायक तो नायिका को पाकर हमें मोह-माया में पड़ने का संदेशा देता है, जबकि खलनायक हमें शिक्षा देता है कि पैसे का लोभ बहुत बुरी चीज होती है, पैसे से प्यार कभी मत करना। जय हो खलनायक महाराज!

सिद्धान्तहीन खलनायक

वैसे तो किसी खलनायक का कोई सिद्धान्त या चरित्र होता ही नहीं है, फिर भी पहले के खलनायक के मुकाबले आज के खलनायक के चरित्र में काफी गिरावट आई है। गिरावट तो

जीवन के कौन से क्षेत्र में नहीं आई है, लेकिन खलनायक, जो पहले से ही गिरा हुआ होता है, उसमें गिरावट आना चिन्ता का विषय है।

पहले के खलनायक में धैर्य होता था। वह अपने चाचा की जायदाद पाने के लिए उनके मरने का इन्तजार कर लेता था। जब कि आज के खलनायक में जरा भी सब्र नहीं। वह अपने चाचा का टेंटुआ दबा देता है। पहले के खलनायकों के घर-परिवार होते थे, बाल-बच्चे होते थे तो थोड़ा-बहुत उनके सुधरने की गुंजाइश रहती थी। वे सुधर भी जाते थे, लेकिन आज का खलनायक, पता नहीं कहां से आता है, क्यूं आता है, और कहां चला जाता है, एकदम आधारहीन, सिद्धान्तहीन और दिशाहीन। खलनायक भइया, जरा जमीन से जुड़ो, अपने भविष्य के बारे में सोचो!

खलनायक की पीड़ा

कलाकार, कलाकार होता है, चाहे वह नायक का रोल करे या खलनायक का। मगर बात ऐसी नहीं है, खलनायक हमारे ऑडियन्स की अज्ञानता का हमेशा शिकार रहा है। उसे नायक जैसा सम्मान नहीं मिलता। बच्चे उससे डर के दूर भागते हैं, और तो और वह अपने बच्चों के साथ बैठ कर अपनी फ़िल्म नहीं देख सकता। पर्दे पर ही सही, कोई अपने बीवी-बच्चों के सामने, अपनी पिटाई होते हुए थोड़े ही देख सकता है।

उसके पास रुपया-पैसा होता है, शोहरत होती है, मगर अज्ञानी जनता की इज़्ज़त नहीं मिलती। मैंने सुना है, कुछ खलनायक निजी ज़िंदगी में नायक से ज्यादा अच्छे होते हैं, दान-पुण्य करते हैं, पर्दे पर जी हुई जिंदगी उन्हें भला बनने पर मजबूर कर देती है। बेचारे क्या करें, एक साथ दोनों जगह बुरे थोड़े ही बन सकते हैं। भई खलनायक, तुम्हारा कल्याण हो! तुम्हारी आत्मा को शान्ति मिले!

प्रेमी भेद

भारतीय फ़िल्मों में दिखाए जाने वाले प्रेमियों को उनके स्तर के हिसाब से निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है या बांटा जाना चाहिए—

देवदास टाइप प्रेमी

फ़िल्म में नायक और कुछ करे न करे, प्रेम जरूर करता है। अब जितने किस्म के प्रेम होते हैं, उतने ही किस्म के प्रेमी होते हैं। फ़िल्मों में एक देवदास किस्म का प्रेमी होता है, होता है नहीं, बल्कि था। पहले की फ़िल्मों में ऐसे प्रेमी थोक में पाए जाते थे। इनका प्रेम फ्लॉप होता था, लेकिन फ़िल्में हिट होती थीं। अब उल्टा हो गया है, इसलिए फ़िल्मों में देवदास जैसे प्रेमी, डायनासोर की तरह समाप्त से हो गए हैं।

ऐसे प्रेमियों का हुलिया, जुग्राफिया हमेशा एक जैसा ही रहा। यह पहले प्रेमिका की बेरुखी से चोट खाता है, चोट खाने के बाद दुनिया को गालियां और प्रेमिका को दुआएं देता रहता है। क्यूं भई, दुनिया ने तेरा क्या बिगाड़ा? जब प्रेम किया था, तब दुनिया से पूछकर किया था। पर खैर, साहब यह नहीं मानता। दुनिया की ऐसी-तैसी करने के बाद यह अपनी ऐसी-तैसी करने पर उतर आता है, दाढ़ी बढ़ा लेता है, हुलिया बिगाड़ लेता है, कोठे पर चला जाता है, वहां दारू पीता है। कोठेवाली की भरपूर सहानुभूति पाने के बाद जनाब घर लौटते हैं तो इकलौता नौकर 'रामू काका' खाने की थाली लिए इनका इन्तजार कर रहा होता है। रामू काका के हजार कहने पर भी यह देवदास खाना नहीं खाता और शराब मांगता है। अब इत्ती पिएगा तो सेहत तो खराब होगी ही और सेहत खराब होगी तो मरेगा भी। देवदास किस्म का प्रेमी हमेशा मरता है। दुनिया को पता ही नहीं चलता कि प्रेम में शहीद हुआ या दारू पी के मरा।

एक से ही प्रेम करने वाला प्रेमी

जैसे एक ही मर्द से प्रेम करने वाली महिला, सती सावित्री होती है, वैसे ही जीवन में सिर्फ़ एक बार, सिर्फ़ एक ही महिला से प्रेम करने वाला प्रेमी 'सती सावित्री' का पुरुष संस्करण होता है। इनका प्रेम के बारे में दृढ़ मत है कि वह जीवन में एक ही बार होता है। यह जानने के बावजूद कि समझदार लोग जिन्दगी में कई-कई बार प्रेम करते हैं।

जब जीवन में एक ही बार प्रेम करना है तो लड़की भी उसके पसंद की होनी चाहिए। उसे लड़की चुनने का पूरा मौका मिलना चाहिए, पर नहीं साहब, इधर इस प्रेमी ने एक लड़की को दिल दिया, उधर पता चला, उसके बाप ने अपने बचपन के मित्र को, उसकी बेटी के साथ अपने बेटे की शादी का वचन दे रखा है। अब बाप अपने फैसले से टलने को तैयार नहीं, क्योंकि उसने दोस्त को वचन दिया हुआ है, 'प्राण जाए पर वचन न जाई।' हालांकि अंत में बाप का वचन जाता है या बेटे के प्राण जाते हैं।

उधर बेटा अपनी प्रेमिका के साथ, दो चांदनी रातों में, दो युगल गीत गा चुका होता है। अपनी मेहनत बेकार जाने देने को तैयार नहीं। अरे, भाई कौन-सा बीमे की रकम का पैसा डूब रहा है, दो गीत ही तो बेकार जा रहे हैं, पर नहीं साहब, लड़की मंगता है तो वोइच मंगता है, दूसरी नईं।

समझाने वाले समझा के थक जाते हैं, लेकिन वह नहीं समझता। उधर वह जो बाप के बचपन के दोस्त की बेटी है, वह भी पढ़ी-लिखी और खूबसूरत है, लेकिन पट्ठा टस-से-मस नहीं होता और अंत में 'प्रेम किए दु:ख होय' वाला संदेश देते हुए या तो अकेला या प्रेमिका को साथ लिए बैकुंठवासी हो जाता है।

अंतर्मुखी प्रेमी

अंतर्मुखी प्रेमी वह प्रेमी होता है, जो या तो प्रेम का इज़हार करने में देरी कर जाता है या बिलकुल ही नहीं कर पाता। ऐसा प्रेमी एक तरह से सामाजिक प्रेमी होता है। इससे समाज को कोई खतरा नहीं होता। यह दूर से लड़की को देखता रहता है और अंदर-ही-अंदर खुश होता रहता है। ऐसे प्रेमी प्रेमिका को घर से भगा ले जाने की बात तो दूर रही, सिनेमा दिखाने के लिए ले जाने की हिम्मत भी नहीं जुटा पाते।

उधर ऐसे प्रेमियों की प्रेमिकाएं भी कमबख्त ज़रूरत से ज़्यादा अंतर्मुखी होती हैं। प्रेमी के साथ किताबों के आदान-प्रदान में, हाव-भाव में, पट्ठी को सब समझ में आ रहा होता है कि अगला अपन पर लट्टू है, लेकिन कह नहीं पा रहा। अरे भई, वह जूते पड़ने के डर से नहीं कह रहा है तो तू कह दे। लड़का शरीफ है, तेरा घर भी बस जाएगा और बाप का दहेज भी बच जाएगा।

ऐसे प्रेमी अपने प्रेम का इजहार प्रेम-पत्र लिख कर करते हैं। प्रेम पत्र चूंकि खुद दे नहीं पाते, इसलिए किसी और तरीके से पहुंचाने की कोशिश करते हैं और जब तक प्रेमिका को पत्र मिलता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। प्रेमिका की शादी तय हो चुकी होती है। दर्शक एकदम निराश हो जाता है, प्रेमिका गई हाथ से।

लेकिन नहीं, ऐसे गऊ जैसे प्रेमी के लिए निर्देशक रास्ता निकालता है। दहेज के बहाने से या दूल्हे को बदचलन दिखाकर बारात को फेरों के ठीक पहले लौटा दिया जाता है। चार लोग मिन्नतें कर के प्रेमी को कहते हैं कि भैया फेरे ले ले, खानदान की इज़्ज़त रख ले। इस तरह उसको प्रेमिका मिल जाती है। इसलिए कहा गया है, भोले-भालों का भगवान रखवाला होता है।

दो प्रेमिकाओं वाला प्रेमी

किसी फ़िल्म में एक ही प्रेमी पर दो-दो प्रेमिकाएं मरती हैं और प्रेमी उन दो में से किसी एक के ऊपर मरता है, दूसरी को गलतफहमी होती है कि वह उस पर मरता है। ऐसे प्रेमी को भाग्यशाली कह सकते हैं। एक के साथ प्यार करता है, दूसरी के साथ हंसी-ठट्टा करता है, ताकि उसकी गलतफहमी बनी रहे और पहली हाथ में नहीं आए तो इसके साथ गृहस्थी बसाई जा सके।

ऐसे प्रेमी के साथ दर्शक को एक सहज ईर्ष्या होती है, क्योंकि उसके पास एक भी नहीं और

वह दो-दो के साथ गुलछर्रे उड़ा रहा होता है। आखिर उसके प्रेम को दर्शक की नज़र लग ही जाती है। जिसके साथ वह हंसी-ठट्टा करता है, उसके साथ उसकी शादी हो जाती है।

प्रेमी का दिल टूट जाता है, नम्बर एक के बदले, नम्बर दो मिल गई। वह दुखी गाने गाता है, चौबीसों घंटे नम्बर एक के ख़्यालों में डूबा रहता है, फिर भी नंबर दो के बच्चे का बाप बनने में सफल रहता है।

दर्शक को फिर दया आती है। कहानी फिर ट्विस्ट लेती है। प्रेमिका नंबर दो को पता चलता है कि इस प्रेम की असली हकदार नम्बर एक है। वह नम्बर एक के रास्ते से हट जाती है और जाते-जाते नम्बर एक के लिए कुछ डायलॉग, एक बच्चा और एक सेकेन्ड हैन्ड पति छोड़ जाती है और दर्शकों के दिल में ऐसे प्रेमी के लिए स्थायी ईर्ष्या छोड़ जाती है...स्साले ने दो-दो के साथ गुलछर्रे उड़ाए!

अमीर प्रेमी

अमीर प्रेमी अक्सर अपने बाप का इकलौता बेटा होता है। वह हमेशा अमीर लड़कियों से नफ़रत करता है और किसी गरीब लड़की से प्यार करता है वह रंगीन कपड़े पहने अकसर खुली गाड़ी में घूमता है। उसके साथ चार-पांच आवारा किस्म के दोस्त और एक कॉमेडियन रहता है।

अमीर प्रेमी जब अमीर बनकर गरीब लड़की से प्रेम करता है तो गरीब लड़की उसकी उपेक्षा करती है, उसको घास नहीं डालती। अमीरी का ऐसा अपमान सिर्फ फ़िल्मों में ही देखने को मिल सकता है, वरना आजकल की लड़कियां कोई ठीक-ठाक रोज़गार पर लगा हुआ स्कूटर वाला भी मुस्कराकर मिले तो पीछे बैठने को तैयार हो जाती हैं, जबकि अमीर प्रेमी तो कार में बैठकर पटाने आता है, फिर भी नहीं पटती।

कभी-कभी कोई अमीर प्रेमी गरीब का रूप धारण करके गरीब बस्ती में रहने आता है ताकि वह गरीबी का आनंद उठा सके, गरीबी को समझ सके। अबे उल्लू के पट्ठे, गरीबी न आनंद की चीज़ है, न ही कोई पहेली, कि जिसे समझने के लिए गरीब का भेष बनाना पड़े। बच्चू, तुमने लगता है गरीबी देखी नहीं है, दो दिन भी गरीबी से वास्ता पड़ जाए तो गरीब का नाटक करना भूल जाओ।

उधर गरीब का भेष धारण करने के दौरान ही एक गरीब लड़की उस अमीर प्रेमी को दिल दे बैठती है। दो युगल गीत गाने के बाद लड़की को मालूम पड़ता है कि वह गरीब, कोई रईसजादा है। इस हिसाब से तो उसे खुश होना चाहिए, मगर नहीं, वह तो अमीर प्रेमी पर नाराज हो जाती है। अरे, घर बैठे अमीर दूल्हा झोली में आकर गिरा है। यह नाराज होने की बात है या खुश होकर नाचने-गाने की।

गरीब प्रेमी

फ़िल्म का नायक अगर गरीब है तो उसकी प्रेमिका अमीर ही होगी। इसमें कोई कुछ नहीं कर

सकता। वह अपनी किस्मत में गरीबी के साथ अमीर प्रेमिका लिखवाकर लाता है।

किसी अपवाद को छोड़ दें तो इन दोनों के मिलने के दो फॉर्मूले आम हैं। एक-प्रेमी दाएं से आता है, प्रेमिका बाएं से आती है। प्रेमी साइकिल पर है, प्रेमिका कार में है, मोड़ पर कार साइकिल से या साइकिल कार से टकराती है, गिरता प्रेमी है लेकिन गुस्सा प्रेमिका को आता है। विशेष नोट- प्रेमिका धूप का काला चश्मा पहने हुए होती है ताकि प्रेमी उठकर डायलॉग बोल सके कि ऐ मेम साहब, दिखाई नहीं देता क्या? यह प्रेमी अगले दिन उसी की क्लास में पढ़ने वाला सहपाठी निकलता है ताकि मुलाकातों का सिलसिला बन सके। दूसरा-प्रेमी सड़क पर पैदल जा रहा है, पीछे से प्रेमिका कार में आती है। प्रेमी लिफ्ट के लिए इशारा करता है। प्रेमिका जू म म म...से निकल जाती है। प्रेमी लापरवाही से ऐसे कंधे उचकाता है, जैसे उसे मालूम है कि कार आगे जाकर खराब होगी। कार आगे जाकर खराब होती है। प्रेमी उसे ठीक करता है, कभी-कभी हाथी से खिंचवाता भी है।

तीसरी रील में प्रेमिका की मति मारी जाती है। वह प्रेमी के साथ भागने को तैयार हो जाती है। एक सूटकेस लेकर, लेकिन प्रेमी तैयार नहीं, उसे पता है कि लड़की करोड़पति बाप की इकलौती बेटी है, एक सूटकेस से काम नहीं चलेगा।

खुल्लम-खुल्ला प्रेम करने वाला प्रेमी

खुल्लम-खुल्ला प्रेम करने वाले को हम बागी प्रेमी भी कह सकते हैं। इसका एकसूत्रीय कार्यक्रम होता है-प्रेम करना। प्रेम ही इसका धर्म होता है। प्रेम ही उसकी दिनचर्या होती है। यह हर वक्त मुस्कराता रहता है, नौकरी वगैरह कुछ नहीं करता। यह अभी यहां है तो अगले ही पल स्विटजरलैंड में नजर आ सकता है। यह घोड़े से लेकर हेलीकॉप्टर तक सब चला सकता है। हमारे देश के नवयुवकों के भविष्य को जितना इसने बर्बाद किया है, उतना किसी ने नहीं किया। इससे प्रभावित होकर प्रेम करने वाले युवकों को अक्सर पिटते देखा गया है।

फ़िल्म की आधी रीलें यह प्रेमी अपनी नायिका को पटाने में खर्च करता है। इसकी नायिका नकचढ़ी और गुस्सैल होती है, शुरू-शुरू में कधें पर हाथ तक नहीं रखने देती, लेकिन एक बार मान जाने के बाद, उठ कहे तो उठती है, बैठ कहे तो बैठती है। एक बार नायिका को कब्जे में करने के बाद प्रेमी, नायिका के बाप की छाती पर जाकर चढ़ बैठता है। देख, पटा लिया तेरी छोकरी को, अब कर इसकी शादी मेरे साथ। फ़िल्म की बाकी सारी रीलें, वह प्रेमी छोकरी के बाप को मनाने में लगाता है।

गलतफहमी का शिकार प्रेमी

आज से पच्चीस-तीस साल पहले की फ़िल्मों में ऐसा प्रेमी हर तीसरी फ़िल्म में नजर आता था, आजकल कभी-कभी नजर आता है। ऐसा प्रेमी इन्टरवेल तक दर्शकों को खूब मजा देता है– नाचता है, गाता है, हंसाता है, लेकिन इन्टरवेल से ऐन पहले किसी गलतफहमी का शिकार हो जाता है। मसलन, जिन अमीर मां-बाप का बेटा बना घूम रहा था, पता चला, वह उनका बेटा है

ही नहीं या पार्टी चल रही है, गाना-वाना चल रहा है। गाने के बाद नायिका का बाप इस प्रेमी के साथ अपनी बेटी की मंगनी एनाउंस करने वाला है। इतने में एक अबला-सी दिखने वाली औरत गोद में नन्हा-सा बच्चा लिए आती है और राज प्रकट करती है कि यह प्रेमी इस बच्चे का बाप है, चारों तरफ सन्नाटा। नायिका प्रेमी को एक चांटा मार कर सीढ़ियां चढ़ जाती है। उसकी कोई नहीं सुनता।

कभी-कभी उस पर खून करने का इल्ज़ाम भी लग जाता है और यह इल्ज़ाम हमेशा हंसती-गाती पार्टी में ही लगता है। आगे की फ़िल्म में प्रेमिका दर्द-भरे गीत गाकर समय गुजारती है और प्रेमी अपनी बेगुनाही के सबूत इकट्ठे करने में लग जाता है, जिसमें वह अंततः सफल ही रहता है।

अंत में सुधरने वाला प्रेमी

यह अंत में सुधरने वाला प्रेमी, शुरू में बिगड़ा हुआ होता है। कुछ आवारा या अमानुष किस्म का होता है। इसके दिल पर कोई चोट लगी होती है। यह दुनिया को हर वक्त ठोकर पर रखता है। दुनिया के बारे में जली-कटी बातें बोलता रहता है तो दुनिया इसको ठेंगे पर रखती है और इसकी बातों की परवाह नहीं करती, लेकिन नायिका की भरपूर सहानुभूति इसके साथ होती है। वह कभी-कभी रात में शॉल ओढ़कर इसे समझाने भी जाती है, जिसे प्रेमी ज्यों-की-त्यों वापस भेज देता है।

यह प्रेमी अक्सर दिल का हीरा होता है, लेकिन इसके कर्म मवालियों जैसे होते हैं। यह शराब और मारपीट का भयंकर शौकीन होता है, पर इसके बावजूद वह सौ प्रतिशत ईमानदार और चरित्रवान होता है। शायद इसलिए निर्देशक एक खूबसूरत नायिका को इसके पीछे लगा देता है, ताकि इसे सुधारकर सामाजिक प्राणी बनाया जा सके।

अब एक तरफ त्याग की देवी है तो दूसरी तरफ गुनाहों का देवता। उसको इसे सुधारना है और इसे सुधरना है। यह अंत में सुधरता है, लेकिन बदमाश अपने आप नहीं सुधरता। नायिका की मदद चाहिए, जरा देखो तो इनके नखरे!

पत्नी से प्रेम करने वाला प्रेमी

पारिवारिक फ़िल्मों का नायक पत्नी से प्रेम करने वाला प्रेमी होता है। इसे नायिका पटाने के लिए पापड़ नहीं बेलने पड़ते, वह पटी-पटाई मिलती है। वह सात फेरे लेता है, सुहागरात मनाता है और अपनी पत्नी से अथाह प्रेम करता है। यह एक टुच्चे किस्म का प्रेमी होता है। यह नायक के नाम पर कलंक होता है साला! पत्नी से प्रेम करता है, कठपुतली कहीं का। प्रेम करने के लिए पत्नी ही बची थी? पत्नी से प्रेम करना वैसे भी दर्शकों के गले नहीं उतरता।

फिर जैसा कि पारिवारिक फ़िल्मों में होता है, दहेज को लेकर या सास-बहू को लेकर घर में झगड़ा होता है या कोई गलतफहमी होती है। बहू अपने मायके चली जाती है। तब यह टुच्चा प्रेमी फिर एक टुच्चापन करता है। नाच-गाना सुनने के लिए कोठे पर जाता है। भई, यह तो नायक के

लक्षण नहीं हुए। तुमने पूरी फ़िल्म में मर्दानगी दिखाने के नाम पर एक चांटा पत्नी को मारा और कोठे पर बाप की दौलत लुटाई।

पैसे खत्म होने पर ऐसे प्रेमी को कोठेवाली भी धक्के देकर निकलवा देती है, फिर लौट के बुद्धू घर को आता है। उसकी पत्नी भी लौट आती है और कुल मिलाकर फ़िल्म का एक 'हैप्पी एन्ड' होता है। इस हैप्पी एन्ड में उसका कोई योगदान नहीं होता। ऐसे आदमी को नायक कहना चाहिए या गोबर गणेश?

फ़िल्मों के प्रत्यक्ष स्तंभ

कई छोटे-बड़े स्तंभों पर खड़ी यह फ़िल्मी दुनिया, कई छोटे-बड़े लोगों ने मिलकर बनाई है। उनमें से कई प्रत्यक्ष जुड़े हुए हैं तो कई अप्रत्यक्ष, कइयों का महत्त्व ज्यादा है तो कुछ का कम, लेकिन महत्त्वहीन कोई नहीं है। लड़ाई में जितना जरूरी सिपाही होता है, उतना ही जरूरी घोड़ा होता है, ...और उतना ही जरूरी होता है, घोड़े के पांव में नाल ठोकने वाला। उसके बिना सिपाही और घोड़ा दोनों बेकार हैं। ये स्तंभ ऐसे होते हैं, जिनकी काट कहीं नहीं होती। इनमें से एक के बिना भी फ़िल्म की कल्पना नहीं की जा सकती।

तो चर्चा करते हैं फ़िल्मी दुनिया के कुछ सिपाहियों की, कुछ घोड़ों की और कुछ घोड़ों के पांवों में नाल ठोकने वालों की। यानी फ़िल्मों से जुड़े प्रत्यक्ष स्तंभों की।

निर्माता

निर्माता न सिर्फ निर 'माता' होता है बल्कि निर 'पिता' भी होता है। कुछेक हिट निर्माताओं को छोड़ दें तो इस निर्माता नाम के प्राणी को कहीं भी गिड़गिड़ाते हुए देखा जा सकता है। स्टार के सामने उसे साइन करने के लिए और फिर शूटिंग की डेट्स लेने के लिए, फाइनेन्सर के सामने फाइनेन्स के लिए, डिस्ट्रीब्यूटर के सामने फ़िल्म बेचने के लिए।

एक कहावत बनी है, 'गरीब की जोरू, सबकी भाभी।' निर्माता बनने से पहले ही उसके लिए एडवांस में यह कहावत बन गई थी। बेचारा निर्माता कई-कई देवरों की भाभी बनने के बाद अपनी फ़िल्म रिलीज करता है। अगर फ़िल्म पिट जाए तो यह भाभी भी पिट जाती हैं और अगर फ़िल्म चल जाए तो फिर इस भाभी के नखरे देखते ही बनते हैं।

निर्देशक (डायरेक्टर)

निर्देशक जहाज के कप्तान की तरह फ़िल्म का कप्तान होता है। उसके निर्देश पर फ़िल्म एक दिशा में आगे बढ़ती है। ऐसा तब होता है, जब निर्देशक अपनी तय दिशा पर अड़ा रहे, वरना ज्यादातर निर्देशक चार कदम नायक की बताई दिशा में दाएं चलकर, फिर चार कदम डिस्ट्रीब्यूटर की बताई दिशा में बाएं चलकर उसी जगह पर आ जाते हैं, जहां से चलना शुरू किया था।

कामयाब डायरेक्टरों के पास निर्माता फ़िल्म के प्रपोजल लेकर आता है, जबकि नाकामयाब डायरेक्टर प्रपोजल बनाकर फेरी वालों की तरह निर्माता के चक्कर लगाता है, ...फ़िल्म बनवा लो! ...फ़िल्म बनवा लो...सस्ते, सुन्दर और टिकाऊ प्रपोजल वाऽऽला।''

फ़िल्म लेखक

फ़िल्म में एक लेखक होता है। उसके पास कहानी को छोड़कर बाकी बहुत कुछ होता है। विदेशी फ़िल्मों से उठाए हुए सीन होते हैं, हिट कैरेक्टर होते हैं, धांसू डायलॉग होते हैं, कभी किसी

लेखक के पास अगर कोई कहानी हो तो वह उसे 'कहानी' नहीं, 'सब्जेक्ट' कहता है। अकसर जिस सब्जेक्ट पर फ़िल्म शुरू होती है, उसी सब्जेक्ट पर फ़िल्म बनती नहीं। फ़िल्म के पूरा होते-होते वह सब्जेक्ट या तो बदल जाता है या बैकग्राउन्ड में चला जाता है।

कुछ फ़िल्म लेखक 'डॉन राइटर' होते हैं, जैसे 'डॉन' के चमचे होते हैं वैसे ही 'डॉन राइटर' के भी चमचे होते हैं। 'डॉन' के इशारे पर उसके चमचे लोगों की जेबें काटकर सारा माल उसके सामने रख देते हैं, ठीक उसी तरह 'डॉन राइटर' के चमचे, जिनको 'घोस्ट राइटर' कहा जाता है, हिट फ़िल्मों की जेब काटकर सारा माल-मसाला उसकी टेबल पर रख देते हैं, हींग लगे ना फिटकरी रंग चोखा। वैसे कुछ असली किस्म के फ़िल्म लेखक भी होते हैं! बस होते हैं, उनको अभी तक किसी ने देखा नहीं।

संगीतकार

पहले भारतीय फ़िल्मों में शुद्ध भारतीय शैली का संगीत सुनने को मिलता था, फिर संगीत ने थोड़ी तरक्की की तो फ़िल्मों में भारतीय शैली के साथ-साथ विदेशी शैली की धुनें सुनने को मिलीं, फिर फ़िल्म संगीत ने पूरी तरक्की की। शैली गायब हो गई, फ़िल्मों में तैयार विदेशी धुनें आ गईं। मतलब, वह तब था जब संगीत बनाना पड़ता था, अब मिलता है रेडीमेड।

इस संगीत डकैती का सात्विक नाम है 'प्रेरणा लेना'। विदेशियों ने हमारे देश पर हजारों साल राज किया, हमारे देश को लूटा। हमने वह सब भुला दिया, लेकिन हमारे 'सपूत संगीतकार' उसे नहीं भूले। वे बदले की आग दिल में दबाकर वक्त का इन्तजार करते रहे। अब वक्त आया तो वे विदेशी संगीत पर भूखे शेर की तरह टूट पड़े, ''शाबाश बहादुरों! खून का बदला खून! लूट का बदला लूट।'' वैसे भी हर एक क्षेत्र में पायरेसी चल रही हो तो बेचारे संगीतकार को क्या पड़ी है कि वह मौलिक संगीत रचकर अपना कैरियर तबाह करे।

गीतकार

पहले की फ़िल्मों में गीतकार पहले गीत लिखकर लाता था, फिर उस गीत के हिसाब से उसकी धुन बनती थी। अब संगीतकार पहले धुन बनाता है, फिर गीतकार से कहता है कि इस धुन के हिसाब से गीत लिखो, यानी पहले कफन तैयार कर लिया, फिर कहा कि अब इस कफन के साइज का मुर्दा लाओ।

ज्यादातर गीतकारों की हालत 'कोल्हू के बैल' जैसी होती है। उनकी डिक्शनरी में दिल, प्यार, जान, जानम, जाना नहीं, आना नहीं, जैसे कुछेक बोल होते हैं। कभी कोई गीतकार 'चोली' या 'कबूतर' को गीतों में लाकर क्रांति-सी ला देता है, तब बाकी गीतकारों पर निर्माता की तरफ से दबाव बढ़ जाता है कि उनको भी गीतों में 'चोली' और 'कबूतर' चाहिए। जब सारी दुनिया आराम की नींद सो रही होती है, तब बेचारा गीतकार 'चोली' और 'कबूतर' को पैदा करने की प्रसव पीड़ा से गुजर रहा होता है।

डिस्ट्रीब्यूटर

फ़िल्मों के धंधे में स्टार्स के बाद 'अपर हेन्ड' अगर किसी का होता है तो वह डिस्ट्रीब्यूटर का होता है। फ़िल्म बनाना, कला के क्षेत्र का विषय है, लेकिन डिस्ट्रीब्यूटर तक पहुंचने के बाद फ़िल्म 'धंधे' से जुड़ जाती है। डिस्ट्रीब्यूटर उसी फ़िल्म को खरीदता है जिसमें ज्यादा धंधा करने की संभावना होती है।

रिश्तों में जो अहमियत दामाद की होती है, फ़िल्मों में वही अहमियत डिस्ट्रीब्यूटर की होती है। उसकी वैसी ही आवभगत होती है, वैसी ही मांग की पूर्ति होती है, जैसी दामाद की होती है। डिस्ट्रीब्यूटर मांग करे कि उसे इस फ़िल्म में पांच फाइट चाहिएं तो निर्माता को पांच फाइट डालनी ही पड़ती हैं। डिस्ट्रीब्यूटर मांग करे कि उसे इस फ़िल्म में, इस जगह पर एक डांस चाहिए तो निर्माता को उस जगह पर डांस डालना पड़ता है। दामाद की मांग न मानने पर बेटी घर बैठी रह सकती है, डिस्ट्रीब्यूटर की मांग न मानने पर फ़िल्म पेटी में बंद हो सकती है।

कैमरामैन

कैमरामैन फ़िल्मों से जुड़ा एक खास स्तंभ होता है। यह और बात है, वह स्तंभ बाजार में शॉपिंग करने निकल जाए तो दर्शक शायद उसे पहचानें भी नहीं, लेकिन सेट पर नई-नई अभिनेत्रियां जब 'दादा-दादा' बोलकर अपनी मुस्कानें उस पर निछावर करती हैं, तब उसको देखो तो आपको अंदाजा होगा कि यह दादा तो बड़ा पहुंचा हुआ मालूम पड़ता है।

कैमरामैन के पास एक तुरुप का पत्ता होता है 'कैमरा ऐंगल', जो स्टार कैमरामैन को खुश रखता है, उस स्टार पर कैमरामैन का 'ऐंगल' मेहरबान रहता है। वह जिस अभिनेत्री को खूबसूरत दिखाना चाहता है, उसे खूबसूरत दिखा सकता है, वह जिस अभिनेता को लंबा दिखाना चाहता है, उसे लंबा दिखा सकता है। पहले कैमरा बना, फिर कैमरामैन आया। उसके बाद फ़िल्म निर्माण का बाकी तामझाम आया। इस ऐंगल से देखें तो कैमरामैन फ़िल्म निर्माण में पहला और प्रमुख स्तंभ है।

एडिटर

फ़िल्म का एडिटर फ़िल्म में नींव के पत्थर की तरह होता है। नींव का पत्थर मकान बनाने में पहले काम आता है, जबकि एडिटर फ़िल्म शूट होने के बाद काम आता है। नींव का पत्थर मकान को स्थायित्व देता है, जबकि एडिटर फ़िल्म को गति देता है। एडिटर फ़िल्म का खासमखास स्तंभ होता है।

कैमरामैन की तरह एडिटर भी दर्शकों से अनपहचाना रह जाता है। कैमरामैन को नायिका की मुस्कान तो मिलती है, एडिटर को तो वो भी नहीं मिलती, लेकिन गुणी जन एडिटर का महत्त्व जानते हैं कि किस तरह वह ढाई-तीन सौ टुकड़ों में शूट किए हुए सीन और गाने, माला की तरह पिरोकर एक फ़िल्म तैयार करता है, मगर वह रस मर्मज्ञ खुद अंधेरे कमरे में नीरस घड़ियां जीता

रहता है। आजकल महिलाएं भी एडीटिंग के फील्ड में अपने जलवे दिखा रही हैं। अच्छा है, एडीटिंग रूम के अंधेरे की नीरसता कुछ कम तो होगी।

फाइनान्सर

जो कॉटन या अनाज में पैसा लगाता है, उसे 'सेठ जी' कहते हैं और जो फ़िल्मों में पैसा लगाता है, उसे 'फाइनान्सर' कहते हैं। सिर्फ भाषा का फर्क है। सेठ जी को फाइनान्सर कहना ठीक वैसे ही है, जैसे खटमल को बैड बग कहना।

फाइनान्सर के पास पैसा होता है। फ़िल्म पैसे से बनती है, लेकिन फाइनान्सर कभी फ़िल्म नहीं बनाता, वह फ़िल्म बनवाता है, जैसे कमल कीचड़ में होकर भी कीचड़ में नहीं होता, ठीक उसी तरह फाइनान्सर फ़िल्मों में होकर भी फ़िल्मों में नहीं होता। वह फ़िल्म में पैसा लगाता है, पर्दे पर उसका नाम आता है, लेकिन फ़िल्म के पर्दे तक पहुंचने से पहले ही वह अपना ब्याज और मूलधन लेकर अलग खड़ा हो जाता है, कीचड़ में कमल की तरह।

गायक/गायिका

फ़िल्मों में स्टार्स के बाद किसी की सुखद स्थिति है तो वह है गायकों की, एक बार चल पड़े तो फिर चल पड़े। इस रिकॉर्डिंग सेन्टर से उस रिकॉर्डिंग सेन्टर और उस रिकॉर्डिंग सेन्टर से इस रिकॉर्डिंग सेन्टर। एक बार माइक के सामने खड़े हो गए तो साठ-सत्तर हजार रुपए पक्के समझो। फ़िल्म जब रिलीज होगी तब होगी, लेकिन गायक कलाकार अपना पैसा रिकॉर्डिंग सेन्टर से बाहर निकलने से पहले अन्दर कर लेते हैं।

प्लेबैक गायकों का काम 'आम के आम और गुठलियों के दाम' जैसा भी है। एक गाना फ़िल्म में गाया, यह हुआ 'आम', अब वही गाना हिट हो गया और प्लेबैक गायक ने उसे स्टेज प्रोग्राम में गाया तो वह हो गया 'गुठली'। एक के बाद एक प्रोग्राम में गुठली चूसे जाना और पैसा बनाते जाना, ऐसी मजे की जिन्दगी होती है गायक लोगों की।

नृत्य निर्देशक

यूं तो नृत्य निर्देशक शुरू से ही फ़िल्म का एक अभिन्न अंग रहा है, लेकिन जब से 'चित्रहार', 'जस्ट डांस' 'डांस इंडिया डांस' और 'नहले पर दहला' जैसे कार्यक्रम बनने लगे हैं तब से वह अभिन्न अंग के बजाय रीढ़ की हड्डी बन गया है। अंग तो शरीर में एक-आधा नहीं हो तो भी काम चल सकता है, मगर रीढ़ के बिना तो काम चल ही नहीं सकता। फ़िल्म तो लोग देखेंगे तब देखेंगे, असली समस्या यह है कि फ़िल्म से पहले ऐसे कार्यक्रमों में नृत्य के अलावा दिखाएं, तो क्या दिखाएं।

फ़िल्म का असली निर्देशक, नृत्य निर्देशक पर इतना निर्भर हो गया है कि यह उस पर भारी पड़ने लगा है, उससे आगे निकल गया है, उसकी गद्दी पर बैठ गया है। ठीक वैसे ही, जैसे पुराने

जमाने में कोई सेनापति अपने राजा को हटाकर उसकी गद्दी पर बैठ जाता था। मतलब यह कि निर्देशक के बिना तो फ़िल्म बन सकती है, मगर नृत्य निर्देशक के बिना बन ही नहीं सकती। नायक-नायिका सेट पर पहुंचते ही नृत्य निर्देशक को सलाम ठोकते हैं, फिर मर्जी हुई तो निर्देशक को 'हलो' करते हैं।

स्टंट निर्देशक

हेलीकॉप्टर से कूदना हो या शीशा तोड़कर निकलना हो या एक मोटर साइकिल को एक ट्रक के ऊपर से या नीचे से निकालना हो तो सोचिए कितना खतरे का काम होता होगा। इस तरह के कितने ही खतरनाक दृश्यों की शूटिंग के पीछे एक स्टंट निर्देशक का दिमाग और उसकी पूरी टीम होती है।

असली निर्देशक तो अपनी जरूरतें बताकर एक तरफ बैठ जाता है और उसके बाद स्टंट निर्देशक उस खतरनाक सीन को अंजाम देता है कई बार उसकी टीम के लोग घायल भी होते हैं, कई बार उसकी टीम का कोई सदस्य मर भी जाता है। अभी कुछ साल पहले एक स्टंटमैन को कार के साथ में नदी में गिरना था और थोड़ी देर बाद बाहर आना था। वह कार के साथ पानी में कूद तो गया, लेकिन बाहर नहीं निकल सका, क्योंकि कार का दरवाजा खुला ही नहीं।

फ़िल्मों में ग्लैमर है तो खतरे भी हैं, फ़िल्में व्यापार हैं तो कला भी हैं, फ़िल्मों में दु:ख के क्षण आते हैं तो खुशी के पल भी आते हैं, उन पलों को आकार देता है स्टंट निर्देशक।

कला फ़िल्म निर्देशक

कला फ़िल्म निर्देशक स्वांत: सुखाय फ़िल्म बनाता है, यानी अपने सुख के लिए बनाता है, पराए पैसों से। जब किसी पराए का पैसा डूबता है तो उसको दु:ख भी जरूर होता होगा तो अब इस बात को ऐसे भी कह सकते है, कला फ़िल्म निर्देशक स्वांत: सुखाय और पर: दुखाय के लिए फ़िल्म बनाता है।

कला फ़िल्म निर्देशक हमेशा रूठा-रूठा सा रहता है, जैसे पूरी दुनिया से नाराज हो। दाढ़ी बढ़ाकर सिगार फूंकता रहता है। एक बार मैंने एक कला फ़िल्म निर्देशक से पूछ ही लिया कि आपको क्या तकलीफ है। आप किससे और किस बात के लिए खफा हैं? वह बोले, ''समुद्र का पानी खारा क्यों है? आसमान नीला क्यों हैं? मोतीलाल अमीर क्यों है? मांगेलाल गरीब क्यों है?'' मुझे लगा, जैसे वह मुझसे सवाल नहीं पूछ रहा है, बल्कि मुझपे आरोप लगा रहा है।

कला फ़िल्म निर्देशक को खुश रखने का एकमात्र तरीका है, उसके सामने यह स्वीकार कर लेना कि सारी दुनिया गलत है, सिर्फ वही एक सही है, बस।

नयों को चांस देने वाले निर्माता

नयों को चांस देने वाले निर्माता दो तरह के होते हैं एक सामर्थ्यवान, दूसरा सामर्थ्यहीन।

सामर्थ्यवान वह निर्माता होता है, जो अपने बलबूते पर फ़िल्म बनाता है और सामर्थ्यहीन वह निर्माता होता है जो नए चेहरों के पैसों के बलबूते पर फ़िल्म बनाना चाहता है। पहला अकसर सफल रहता है, जबकि दूसरा खुद तो डूबता ही है, नयों को भी लेकर डूबता है। ऐसे निर्माता किसी स्टूडियो या पुराने फ़िल्म के ऑफिस में एक टेबल और एक कुर्सी लगाकर, किसी अख़बार में विज्ञापन का चारा डालके मछली फंसने का इंतजार करते रहते हैं और परिणाम, जिसने चोंच दी है वह चुग्गा भी देता है, जिसने ठग बनाए हैं, उसने बेवकूफ भी बनाए ही हैं।

म्यूजिक अरेन्जर

आपने कभी गाने की रिकॉर्डिंग देखी हो तो याद कीजिए रिकॉर्डिंग रूम में एक आदमी हेड फोन लगाए, सारे साजिन्दों और गायकों को हाथों के इशारों से बजाने और गाने के लिए 'क्यू' देता रहता है। रिद्म के साथ ऐसे हाथ नचाता है कि मन मोह लेता है। आपने समझा होगा कि वह संगीत निर्देशक होगा। नहीं, संगीत निर्देशक तो एक धुन बनाकर या चुराकर इसको सौंप देता है। बाकी सारा काम रिद्म, म्यूजिक पीस, रिकॉर्डिंग सब यह करता है। इसे संगीत अरेंजर कहते हैं।

यह म्यूजिक अरेंजर माल-वाल अच्छा कमा लेता है, लेकिन नाम नहीं कमा पाता, नाम म्यूजिक डायरेक्टर कमाता है। क्यों? क्योंकि यह संगीत अरेंजर एक तरह से संगीत निर्देशक का डुप्लीकेट होता है।

असिस्टेन्ट

असिस्टेन्ट यानी सहायक। सहायक निर्देशक, सहायक कैमरामैन, सहायक मेकअप मैन वगैरह-वगैरह। फ़िल्मों में सहायक लोग काम करते हैं और साथ-साथ काम सीखते भी हैं। यही लोग आगे चलकर सहायक से मुख्य बनते हैं।

असिस्टेन्ट निर्देशक का निर्देशक के साथ और असिस्टेन्ट कैमरामैन का कैमरामैन के साथ आपसी संबंध गुरु और शिष्य जैसा होता है, सिर्फ होता ही नहीं, वे एक-दूसरे को गुरु-शिष्य मानते भी हैं। आगे चलकर भले ही गुरु गुड़ और चेला शक्कर हो जाए, मगर कितनी अच्छी बात है कि फ़िल्मों में आज भी गुरु और शिष्य की शुद्ध भारतीय परंपरा जीवित है।

शूटिंग पैकअप होने के बाद कुछ गुरु-शिष्य साथ बैठकर शराब भी पीते है। गुरु शिष्य को साथ बिठाता व शराब पिलाकर अपनी दरियादिली से शिष्य का दिल जीत लेता है, फिर गुरु अगर शराब कुछ ज्यादा पी ले और घर पहुंचने में असमर्थ-सा लगे तो गुरु को उसकी ना-नुकर के बाद भी शिष्य का जबरदस्ती घर छोड़ने जाना, गुरु का दिल जीत लेता है।

हेयर ड्रेसर और ड्रेसमैन

हेयर ड्रेसर और ड्रेसमैन का काम घोड़े की नाल ठोकने वालों से भी ज्यादा महत्त्व का है। बिना नाल का घोड़ा थोड़ी दूर तक तो चल ही सकता है, लेकिन बिना हेयर ड्रेसर और बिना

ड्रेसमैन के जरा-सी शूटिंग भी नहीं हो सकती।

ड्रेसमैन से मतलब आप सिर्फ दर्जी मत समझ लेना, बड़ा ज्ञान होता है उसको ड्रेसों के बारे में। अगर मुगलकाल की फ़िल्म बन रही हो तो उस फ़िल्म के ड्रेसमैन को पता होता है कि सन् 1554 में जब अकबर गद्दी पर बैठा था, तब उसने कौन-सी ड्रेस पहन रखी थी।

नायिका की जुल्फों पर हजारों गीत बने है। माना कि जुल्फें नायिका की हैं और गीत के बोल गीतकार के, लेकिन असली काम करता है हेयर ड्रेसर। वह नायिका की जुल्फ को देखने और सराहने योग्य बनाता है। वह साधारण बालों को जुल्फ का दर्जा देता है।

जूनियर आर्टिस्ट

एक होता है, जूनियर आर्टिस्ट। असल बात है आर्टिस्ट होना। आर्टिस्ट कहने में एक गरिमा है, एक ग्रेस है, जूनियर है तो क्या हुआ? वह अपने आपको तसल्ली दे सकता है, यह जूनियर-सीनियर, यह गोरा-काला, यह अगड़ा-पिछड़ा, यह सब तो दुनिया के बनाए हुए चोंचले हैं। इन चोंचलों को निकाल दें तो आज अमिताभ बच्चन और चंपालाल में फर्क क्या है? कुछ भी नहीं। वह भी आर्टिस्ट, यह भी आर्टिस्ट।

पहले जूनियर आर्टिस्ट को एक्स्ट्रा कहा जाता था। इसमें एक तरह का अपमान झलकता था तो यूनियन बनी, लड़ाई लड़ी गई तब नाम बदलकर जूनियर आर्टिस्ट कर दिया। अंधे को सूरदास कह दिया, नाम बदल गया, काम वही रहा। बॉम्बे को मुंबई कहने से जैसे बॉम्बे की समस्याएं हल हो गईं, वैसे ही एक्स्ट्रा को जूनियर आर्टिस्ट कहने से एक्स्ट्रा में छिपा अपमान धुल गया।

जूनियर आर्टिस्ट पच्चीस-पचास या सैकड़ों की भीड़ का हिस्सा होता है। किसी सेठ की पार्टी का सीन हो या किसी राजा का दरबार, जूनियर आर्टिस्ट अपना गेटअप लेकर तैयार हो जाता है। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, जब तक सीन चलता है, जूनियर आर्टिस्ट का मीटर चलता रहता है। आवाज लगी, ''भाई लोग रेडी'' तो सेट पर पहुंच गए, नहीं तो ताश खेलता है या आराम से नींद खींचता रहता है। कभी किसी जूनियर कलाकार को किसी सीन में कैमरे के नजदीक आने का अवसर भी मिल जाता है। फ़िल्म रिलीज होने पर वह अपने पूरे परिवार को लेकर देखने आता है। सीन में दूसरी कतार में भाला पकड़े ज्योंही वह नजर आता है, उसके बच्चे, ''वो देखो, पापा!'' कहकर ताली बजाते हैं। जीवन-संगिनी प्रशंसा भरी नजरों से उसे देखती है, थोड़ी देर के लिए ही सही, वह उसकी नजरों में विशिष्ट बन जाता है।

मेकअप मैन

मेकअप मैन का काम भी बड़ा बारीक काम होता है। खूबसूरत को बदसूरत और बदसूरत को अधिक बदसूरत बना सकता है। 'हिन्दुस्तानी' फ़िल्म में कमल हासन के लिए हॉलीवुड से मेकअप मैन आया था। सत्तर साल के बूढ़े का ऐसा मेकअप किया कि अगर बताया नहीं जाता तो कोई पहचान भी नहीं पाता कि यह कमल हासन है। वाह! मेकअप मैन वाह! जैसी बढ़िया

तकदीर मेकअप मैन की होती है, वैसी बहुत कम लोगों की होती है। वह माधुरी दीक्षित को एक फीट की दूरी से देख सकता है। वह ऐश्वर्या राय की आँखों में घंटों झांक सकता है। वह करिश्मा कपूर के गालों को एक से अधिक बार छू सकता है। नायक के बाद यह सुविधा किसी को प्राप्त है तो वह सिर्फ मेकअप मैन को। इस देश के प्रधानमंत्री को भी नहीं, इस देश के राष्ट्रपति को भी नहीं।

वैसे मेकअप मैन के सामने नायक भी कहां ठहरता है? नायिका के गालों का स्पर्श पहले मेकअप मैन को मिलता है। नायक के स्पर्श करने तक तो गाल सेकेन्ड हैंड हो चुके होते हैं।

डुप्लीकेट

डुप्लीकेट का मतलब होता है हूबहू यानी प्रतिरूप। नायक अच्छा अभिनय कर लेता है, मगर जरूरी नहीं कि वह दूसरी मंजिल से कूद भी सकता हो। नायक का डुप्लीकेट दूसरी मंजिल से कूद सकता है, मगर वह अच्छा अभिनय नहीं कर सकता तो यह रास्ता निकाला गया। नायक के हिस्से का जम्प डुप्लीकेट लगाता है या यूं कह सकते हैं कि डुप्लीकेट के हिस्से का अभिनय नायक करता है।

कुछ बुद्धिजीवी इस बात पर एतराज करते हैं कि डुप्लीकेट के हिस्से की तालियां नायक को क्यों मिलती हैं, तो भई यह तो दुनिया की व्यवस्था ही ऐसी है। सिर्फ फ़िल्मों में ही नहीं, हर क्षेत्र में, एक के हिस्से का श्रेय कोई दूसरा ले जाता है। देश की आज़ादी के लिए प्राण कोई देता है और सत्ता का सुख कोई और पाता है। भाषण कोई और लिखता है और उस भाषण पर तालियां कोई और नेता बजवाता है, यानी ठगु कुल रीत सदा चली आई।

प्रोडक्शन मैनेजर

प्रोडक्शन मैनेजर बहुत सख्त जान का आदमी होता है। वह कुछ सालों तक इस पद पर टिक जाए तो उसके निर्माता बनने की संभावना पक्की समझो।

जैसे-जैसे अपमान सहने और अपमान करने का अनुभव गहरा होता जाता है, वैसे-वैसे यह संभावना हकीकत में बदलती हुई नजर आने लगती है।

किसी खर्चे में से कुछ पैसे बचा लेना, कलाकारों से गांठ के रखना, अच्छे काम का क्रेडिट खुद लेना और गलतियों को अपने जूनियर पर डाल देना, कब और किस-किस निर्माता को अपनी होशियारी से संकट से बचाया, सेट पर ऐसे किस्से सुनाना, एक सफल प्रोडक्शन मैनेजर की पहचान होती है। वह दोस्तों-यारों में भले ही 555 सिगरेट पिए, मगर सेट पर हमेशा बीड़ी पीता है। निर्माता को यह दिखाने के लिए कि वह सिर्फ तनख्वाह के पैसों से गुजारा करता है, समझे!

जानवर सप्लायर

फ़िल्मों में जानवर कलाकारों का अपना एक अलग स्थान है। अगर निर्माता को किसी कलाकार की डेट लेनी हो तो वह उसके सेक्रेटरी को फोन करता है और अगर किसी जानवर कलाकार की डेट लेनी हो तो उसके मालिक को फोन करना पड़ता है, ''अबे मालिक भय्ये, तू जानवर कलाकार का मालिक है या जानवर तेरा मालिक है? मेहनत जानवर कर रहा है, पैसे जानवर कमा रहा है और मालिक तू बना बैठा है।''

खैर, ऐसे आदमी को जानवरों का सप्लायर कहा जाता है। कुत्ता, घोड़ा, बंदर आदि कलाकारों के सप्लायर बड़ा पैसा कमाते हैं। 'राजा और रंचो' धारावाहिक के बंदर का मालिक जब शूटिंग में साथ जाता था तो फाइव स्टार होटल में ठहरता था, अपने बंदर की बदौलत। अच्छा है, आदमी को बेटे की पढ़ाई-लिखाई पर खर्च करने के बजाय एक जानवर कलाकार को पाल लेना चाहिए। बेटा तो कपूत भी निकल सकता है, अपनी कमाई का हिसाब भी मांग सकता है। एक जानवर सप्लायर किसी बेटे के बाप की बनिस्बत ज्यादा सुखी और सुरक्षित होता है।

जूनियर कलाकार सप्लायर

थोड़ी देर पहले जूनियर आर्टिस्ट का जिक्र आया था। अब आपको बता दें कि एक जूनियर आर्टिस्ट सप्लायर भी होता है, जो निर्माता को जूनियर कलाकार सप्लाई करता है, जैसे जानवरों का सप्लायर, जानवर सप्लाई करता है, वैसे ही जूनियर आर्टिस्ट का सप्लायर, जूनियर आर्टिस्ट सप्लाई करता है।

लेकिन दोनों स्थितियों में बड़ा फर्क है। एक सप्लायर जब एनीमल को सप्लाई करके अपना रोजगार तलाशता है तो जानवर महान् हो जाता है, लेकिन जब एक इंसान, दूसरे इंसान को सप्लाई करता है तो इंसान और कलाकार दोनों छोटे हो जाते हैं। एक सप्लायर इंसान को भी माल या सामान बना देता है।

स्पॉट बॉय

फ़िल्म निर्माण की सबसे बड़ी इकाई होती है निर्माता और सबसे छोटी इकाई होती है स्पॉट-बॉय। दोनों इकाइयां एक अदृश्य धागे से जुड़ी होती हैं। जब सेट पर किसी चीज की मांग उठती है तो उस मांग की आंच दोनों को समान कष्ट पहुंचाती है, एक को आर्थिक कष्ट और दूसरे को शारीरिक कष्ट। स्पॉट बॉय को शूटिंग के दौरान इतनी भाग-दौड़ करनी पड़ती है कि कभी-कभी सोचता है कि अगर वह नहीं होता तो बेचारा निर्माता फ़िल्म कैसे बनाता।

सेट पर बाकी लोगों को स्पॉट बॉय, मांगने पर चाय पिलाता है जबकि नायिका की नौकरानी को, हेयर ड्रेसर को बिना मांगे ही पिला देता है। फ़िल्म इंडस्ट्री एक परिवार की तरह है। स्पॉट बॉय की दिन-भर की थकान तब छूमंतर हो जाती है, जब सोचता है कि वह उसी परिवार का हिस्सा है, जिस परिवार में करीना कपूर है, विद्या बालन है, कैटरीना कैफ़ है, अमिताभ बच्चन है, सलमान खान हैं, आमिर खान हैं, ऋतिक रोशन हैं।

कोहरा, तूफान और बरसात वाला

कोहरा, तूफान और बरसात वैसे तो कुदरत और विधाता के हाथ में होते हैं। मौसम विभाग वाले कुछ घंटे पहले सूचित भी कर देते हैं कि इतने बजे तूफान आएगा और इतने बजे बरसात आएगी या गरज के साथ छींटे पड़ेंगे, लेकिन फ़िल्म वालों के लिए ऐसा तूफान और ऐसी बरसात किसी काम की नहीं, ना तो वे उसका इन्तजार कर सकते हैं और ना उसके भरोसे रह सकते हैं।

फ़िल्म वालों को तो ऐसे तूफान और ऐसी बरसात की जरूरत पड़ती है, जो उनके कलाकारों के आने के बाद आ सके और पैकअप बोलते ही बंद हो सके।

फ़िल्म वाले अपना विधाता खुद रखते हैं–कितनी बरसात चाहिए? कितना तूफान चाहिए? सब ऑर्डर के माफिक। नायक नायिका को नजदीक लाने वाली रोमांटिक बरसात या दोनों को बिछुड़वाने वाली तूफानी बरसात, जब चाहिए, जितनी चाहिए, 'फॉग स्टार्म एन्ड रेन वाले को फोन करो।' मिनी विधाता आएगा और मशीन से स्टार्म और रेन करके चला जाएगा। असली विधाता फ़िल्म निर्माण में बाधा डालता है, नकली विधाता फ़िल्म को आगे बढ़ाता है।

अप्रत्यक्ष स्तंभ

फ़िल्म उद्योग, जिसे सरकार उद्योग मानने को तैयार नहीं है, आज कई छोटे-बड़े स्तंभों पर खड़ा है। कुछ स्तंभ दिखाई देते हैं, कुछ दिखाई नहीं देते, नहीं दिखाई देने वाले स्तंभों में कुछ निम्नलिखित हैं-

गेटकीपर

गेटकीपर चाहे सिनेमा का हो, चाहे स्टूडियो का। उसके बगैर कोई सिनेमा की दुनिया में घुस नहीं सकता। आज धर्मेन्द्र यदि धर्मेन्द्र हैं तो इसलिए हैं, क्योंकि गेटकीपर ने उनको स्टूडियो में घुसने दिया। अमिताभ बच्चन, अमिताभ बच्चन इसलिए बन सके, क्योंकि गेटकीपर ने उन्हें रोका नहीं। आज भले ही इन दोनों ने कई-कई गेटकीपर रख लिए हों, मगर खुद गेटकीपर की मेहरबानी से इतने बड़े स्टार बने।

गेटकीपर बड़ा संतोषी जीव होता है। वह सुरैया, मुमताज या साधना को मन में बसाकर घर से चलता है और गेटकीपर बनने के बाद सिनेमा या स्टूडियो की सफाई वाली से ही सन्तोष करके अपना सारा जीवन गुजार लेता है।

टिकट ब्लैक करने वाला

टिकट ब्लैक करने वाला सिनेमा का सबसे बड़ा अप्रत्यक्ष स्तंभ है, निर्माता से भी बड़ा। निर्माता फ़िल्म को बनाता है। ब्लैक करने वाला फ़िल्म को हिट बनाता है। दर्शक, समीक्षक सब बाद में आते हैं। फ़िल्म हिट है या फ्लॉप, इसका पहला सर्टीफिकेट देता है, टिकट ब्लैक करने वाला।

निर्माता छिपकर फ़िल्म की रिपोर्ट पता करने आता है। वहां उसे गले में रूमाल डाले, पचास के सौ, पचास के सौ करता हुआ, यह समाज विरोधी तत्त्व ब्लैक करने वाला दिख जाए तो वह उसे किसी फरिश्ते से कम नहीं लगता। उसका जी करता है, जाकर उसके पांव छू ले। एक निर्माता तभी सफल होता है, जब उसे ब्लैक करने वाले का आशीर्वाद प्राप्त होता है।

फ़िल्म समीक्षक

फ़िल्म समीक्षक सिनेमा से 'इनडायरेक्ट' जुड़ा, वह अनिवार्य स्तंभ है जिसका होना और नहीं होना एक बराबर है। वह किसी फ़िल्म की बुराई लिखता है तो उससे फ़िल्म की सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ता और किसी फ़िल्म की तारीफ लिखता है तो दर्शक को उस पर भरोसा नहीं होता। अधिकतर ऐसा हुआ है कि जिस फ़िल्म को समीक्षक ने अच्छा कहा, वह फ़िल्म बोर निकली और जिस फ़िल्म को बोर कहा, वह मनोरंजक निकली।

समीक्षक उस आदर्श सास की तरह है, जो अपनी बहू के किसी काम की तारीफ नहीं करती और निर्माता उस बहू की तरह है, जो सास की बुराई की रत्ती भर परवाह नहीं करती, फिर भी

निर्माता समीक्षक को फ़िल्म दिखाने के लिए तैयार रहता है और वह फ़िल्म की बुराई लिखने के लिए तैयार रहता है।

सेक्रेटरी

फ़िल्मों में हर कलाकार का एक सेक्रेटरी होता है। क्यों होता है? यह नहीं पता, मगर होता जरूर है। सेक्रेटरी अपने आप में छोटा या बड़ा नहीं होता, अगर कलाकार बड़ा है तो उसका सेक्रेटरी बड़ा हो जाता है और अगर कलाकार छोटा है तो उसका सेक्रेटरी कितना भी जोर लगा ले, वह बड़ा नहीं बन सकता।

जैसे पहले दारा सिंह को चैलेंज करने वाले पहलवान को दारा सिंह से पहले रंधावा से लड़ना पड़ता था, वैसे ही कलाकार से मिलने आए निर्माता को, कलाकार से पहले सेक्रेटरी से निपटना पड़ता है, यानी असल में सेक्रेटरी, कलाकार का रंधावा होता है।

सेक्रेटरी, कलाकार के निर्माताओं को ओब्लाइज करता है। कलाकार की फैन्स को स्नेहिल नजरों से देखता है, कुल मिलाकर पराए माल पर मौज करता है और अन्त में एक दिन निर्माता बन जाता है।

सेंसर बोर्ड

सेंसर बोर्ड के बारे में जब भी मैं सोचता हूं तो मुझे 'पंचतंत्र' की एक कहानी याद आती है। कहानी में एक बूढ़ा आदमी, एक गधे को लेकर अपने 15 साल के बेटे के साथ कहीं जा रहा था, दोनों पैदल चल रहे थे। रास्ते में लोगों ने देखा तो ताना मारा कि कैसा बेवकूफ आदमी है, गधे के होते हुए पैदल चल रहा है।

यह सुनकर बूढ़े ने लड़के को गधे पर बैठा दिया। लोगों ने रास्ते में देखा तो फिर ताना मारा कि कैसा निर्लज्ज बेटा है! बूढ़ा बाप पैदल चल रहा है और खुद गधे पर बैठा है।

बेटा नीचे उतर गया और उसने बाप को गधे पर बैठा दिया, तब लोगों ने ताना मारा कि बूढ़ा कैसा बेशर्म है! मासूम बच्चा पैदल चल रहा है और खुद आराम से गधे पर बैठा है।

अब एक ही विकल्प बचा था। बूढ़े ने लड़के को भी अपने साथ गधे पर बैठा लिया। तब लोगों का ताना सुनाई दिया कि कैसे निर्दयी हैं बाप और बेटे, एक गधे पर दोनों लद गए।

सेंसर बोर्ड की हालत भी ऐसी ही है। ऐसा करे तो क्रिटिसाइज होता है और वैसा करे तो थू-थू होती है। रोंग हो तो रोंग, सही हो तो भी रोंग।

एन. एफ. डी. सी.

एन. एफ. डी. सी. यानी नेशनल फ़िल्म डेवलपमेन्ट कॉरपोरेशन। यह फ़िल्मों में फाइनान्स करने वाला सरकारी फाइनान्सर है। राज कपूर, ऋषिकेश मुखर्जी या प्रकाश मेहरा ने कभी एन.

एफ. डी. सी. से फाइनान्स नहीं लिया, क्योंकि एन. एफ. डी. सी. ने दिया ही नहीं।

एन. एफ. डी. सी. की गोविन्द निहलानी की 'अर्धसत्य', सथ्यू की 'गर्म हवा' या एटनबरो की 'गांधी' फ़िल्में अपवाद हैं। वरना एन. एफ. डी. सी. के उसूलों के मुताबिक वह उन्हीं फ़िल्मों को फाइनान्स करता है, जो या तो रिलीज नहीं होती और जो रिलीज हों तो वह चलें नहीं। यह संस्था उन्हीं निर्माताओं को पैसा देती है, जो ब्याज तो ब्याज मूलधन को भी डकार जाएं। एन. एफ. डी. सी. की फाइनान्स करने की एक अलिखित-सी शर्त होती है कि फ़िल्म उबाऊ और असहनीय होनी चाहिए।

एक्टिंग स्कूल

एक्टिंग के स्कूलों के बारे में न तो यह कहना सही है कि वे फालतू हैं और न यह कहना सही होगा कि वे किसी काम के हैं। पूना का फ़िल्म इन्स्टीट्यूट सत्तर के दशक में ज़रूर कुछ चर्चा में आया था, जब उससे निकले कुछ कलाकारों ने, मसलन शत्रुघ्न सिन्हा, असरानी, जया भादुड़ी, डैनी वग़ैरह ने चौंकाया था, मगर सब उन कलाकारों के व्यक्तिगत हुनर का कमाल था, इन्स्टीट्यूट का नहीं। इधर मुंबई के कुछ प्राइवेट अभिनय स्कूल भी अभिनय सिखाने के अपने-अपने दावे पेश करते हैं, लेकिन अभिनय सम्राट दिलीप कुमार ने किस स्कूल में अभिनय सीखा? वह खुद एक स्कूल हैं। सुपर स्टार राजेश खन्ना, एवरग्रीन धर्मेन्द्र और मेगा स्टार अमिताभ बच्चन आदि किस इंस्टीट्यूट से हैं? और फलां-फलां एक्टर को सैकड़ों फ़िल्मों में काम करने के बाद भी एक्टिंग करनी क्यों नहीं आई? इन सवालों के जवाब किसी एक्टिंग स्कूल के पास नहीं हैं। वैसे ये स्कूल फ़िल्मी ग्लैमर के बाइ-प्रोडक्ट हैं, उप-उत्पादन हैं, ठीक वैसे ही जैसे मुज़रा मार्केट के पास गजरे बेचने वाले उग आते हैं।

फ़िल्म पत्रिकाएं

पत्रिकाओं और फ़िल्मों का आपसी संबंध भी बड़ा गहरा होता है। यूं समझ लीजिए जैसे बंदर और मदारी का होता है। मदारी की वजह से बंदर और बंदर की वजह से मदारी का गुजारा होता रहता है। फ़िल्म पत्रिकाएं मार्केट में फ़िल्म वालों की हवा बनाती हैं और फ़िल्म वाले पत्रिकाओं को चटपटी व मसालेदार खबरें देते रहते हैं। ''आरे, मेरे संपटपाट, मैं तुझे चाटूं, तू मुझे चाट।'' दोनों खुश।

अखबारों में नेताओं की खबरें छपती हैं। फ़िल्मी पत्रिकाओं में अभिनेताओं की खबरें छपती हैं। नेता दल बदलता है तो खबर बनती है, अभिनेता प्रेम बदलता है तब खबर बनती है।

फ़िल्म पत्रिकाएं भले ही दूसरी पत्रिकाओं से कम छपती हों, लेकिन बड़ी दूर तक पहुंचती हैं। दूसरी पत्रिकाएं अगले दिन रद्दी की दुकान में बिक जाती हैं, जबकि फ़िल्म पत्रिकाएं युवाओं के तकियों के नीचे पहुंच जाती हैं और एक रोमांटिक ड्रीम की भूमिका बनाती हैं।

फ़िल्मी गीतों के श्रोता

फ़िल्म में कोई अमर गीत बनता है तो उस गीत को अमर बनाने में जितना हाथ संगीतकार, गीतकार और गायक का होता है, उतना ही श्रोताओं का होता है। संगीत वालों की कंपनी एक या दो बार गीत को बजाकर मार्केट में छोड़ देती है। उसके बाद में फरमाइश कर-करके बार-बार बजवाना और उस गीत को हिट करवाना, श्रोताओं का काम होता है।

आज जैसे आगरा ताजमहल के लिए प्रसिद्ध है। दिल्ली लालकिले के लिए प्रसिद्ध है, वैसे ही कोई पूछे कि श्रोताओं के लिए कौन-सा शहर प्रसिद्ध है तो आप कहेंगे, झुमरीतलैया और मारवाड़ मुंडवा। चंद संगीत प्रेमी श्रोताओं ने झुमरीतलैया और मारवाड़ मुंडवा को नेशनल लेवल की पहचान दिलवा दी। पूरे देश को पता चल गया कि यहां बसते हैं असली संगीत सुनने वाले।

पी.आर.ओ.

पी.आर.ओ. यानी पब्लिक रिलेशन ऑफिसर। जो लोग अपने मुंह से अपनी तारीफ़ नहीं कर सकते, वे अपनी तारीफ़ के लिए एक पी. आर. ओ. रख लेते हैं।

पी.आर.ओ. बहुत कल्पनाशील प्राणी होता है। वह तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बनाता है। कभी-कभी वह जहां पानी मिलने की खबर देता है, वहां कीचड़ भी नहीं मिलता।

कलाकार का पी.आर.ओ., लाल स्याही से लिखे पत्र को खून से लिखा पत्र, प्रचारित करता है। कलाकार अपनी कीमत बढ़ाकर उस खून की कीमत निर्माता से वसूल करता है। निर्माता डिस्ट्रीब्यूटर से और डिस्ट्रीब्यूटर जनता से वसूल करता है। दुनिया में खून से क्रांति नहीं आती, पी.आर.ओ. लाल स्याही से क्रांति ले आता है।

गॉड फादर

फ़िल्मों में एक गॉड फादर होता है, थोड़ा पहुंच वाला, थोड़ा अनुभवी और थोड़ा होशियार। फ़िल्मों में काम करने आए किसी लड़के में टैलेन्ट देखता है तो सिर पर हाथ रख देता है। सोचता है, बन गया तो जिन्दगी-भर पांव छुएगा, वरना जेब से क्या गया।

लड़कियों के बारे में, यानी नायिका बनने आई लड़की के बारे में ऐसा नहीं है। हम कह सकते हैं, हर सफल नायक के पीछे एक गॉड फादर होता है तो हर असफल अभिनेत्री के पीछे भी एक गॉड फादर होता है, वह उसे लेकर फ़िल्म शुरू करता है। अव्वल तो वह फ़िल्म पूरी होती नहीं, पूरी हो भी गई तो रिलीज नहीं होती और रिलीज होती भी है तो चलती नहीं। इस बीच वह नायिका, उस गॉड फादर के साथ सज-धजकर पार्टियों में जाती है और फिर एक दिन सुनने में आता है कि उस नायिका ने अपने गॉड फादर के साथ घर बसा लिया, जो पहले से ही बसा हुआ था। गॉड फादर-परमेश्वर, पिता तब पति परमेश्वर बन जाता है।

थिएटर वाला

सिनेमा हॉल वाला भी, सिनेमा का एक महत्त्वपूर्ण अप्रत्यक्ष स्तंभ होता है। फ़िल्म बनकर

तैयार हो गई। अब देखने के लिए जगह ही नहीं होगी तो निर्माता क्या कर लेगा और दर्शक क्या कर लेगा? बिना थिएटर वाले के तो निर्माता और दर्शक की हालत वैसी ही होती है, जैसी बिना पंडित के दूल्हे और दुल्हन की होती है।

यह सिनेमा हॉल वाला भी पंडित की तरह गांठ का पक्का होता है। फ़िल्म चले या फ्लॉप हो, उसका टका पक्का होता है। वह निर्माता के घाटे में भागीदार नहीं बनता। 'उपकार' फ़िल्म में जैसे प्रेम चोपड़ा स्वार्थ में अपने भाई मनोज कुमार से अलग होता है, वैसे ही थिएटर वाला भी फ़िल्म उद्योग से पैसों के लालच में अलग हो रहा है। यह थिएटर तुड़वा के शॉपिंग सेन्टर बनवा रहा है। 'ओ, जाने वाले हो सके तो लौटके आना।'

ब्रोकर

सिनेमा हॉल की पोजीशन फ़िल्म इंडस्ट्री में एक पंडित जैसी है तो ब्रोकर की पोजीशन नाई जैसी है, यानी फ़िल्म रूपी दुल्हन के लिए डिस्ट्रीब्यूटर रूपी घर तलाशना। इसमें वह दोनों पक्षों से दो-दो परसेन्ट कमीशन लेता है।

यह ब्रोकर संस्कृति यूं तो हर बिजनेस में ज़रूरी है, लेकिन सिनेमा में यह कुछ ज्यादा ही ज़रूरी है, क्योंकि बाकी जगहों पर तो लोग तेल में पकौड़े तलते हैं, मगर सिनेमा वाले लोग पानी में पकौड़े तलते हैं और पानी में तले पकौड़े बेचना, कोई आसान काम नहीं है।

नायिका की मम्मी

नायिका की मम्मी आहा उनकी तो जितनी बात की जाए, उतनी कम है। मेरा मतलब है कि जितनी तारीफ़ की जाए, उतनी कम है। पुराने जमाने में जब राजा अपनी सेना के साथ जिस गांव में डेरा डालता था, उस गांव का भगवान ही मालिक होता था। आजकल जिस सेट पर नायिका की मम्मी डेरा डाल देती है, उस सेट का भगवान ही मालिक होता है।

वह लंच के वक्त डिनर का ऑर्डर दे सकती है और डिनर के वक्त लंच का। जंगल में चाइनीज़ फूड की फरमाइश कर सकती है। नायिका की मम्मी मुश्किल-से-मुश्किल चीजों की फरमाइश करती है, ताकि वह अपने आपको यकीन दिला सके कि वह नायिका की मम्मी है। नायिका की मम्मी, यानी काम की ना काज की, दुश्मन अनाज की। नायिका के कैरियर का उत्थान स्वयं उसकी प्रतिभा के कारण होता है और उसके कैरियर का पतन उसकी मम्मी के कारण होता है।

चमचा

चमचा फ़िल्मी दुनिया का वह अप्रत्यक्ष स्तंभ है, जिसके बिना कोई स्टार, स्टार नहीं कहला सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा स्टार क्यों न हो। फ़िल्मों में सफलता और चमचागिरी का चोली-दामन का साथ होता है। कामयाबी मिली कि चमचे हाज़िर, नाकामी मिली, चमचे फुर्र!

वैसे चमचे रखने में कोई बुराई भी नहीं है। बेचारे तनख्वाह तो लेते ही नहीं, थोड़ा-बहुत खाते-पीते हैं तो उतनी तारीफ़ भी तो करते हैं। उस पर भी किसी को चमचे पसंद नहीं हों तो वह नहीं बने स्टार। चमचे तो स्टारडम की पहली शर्त होते हैं, जैसे सिंगार के बिना सुहागन फीकी, वैसे ही चमचों के बिना स्टार फीका, जहां गुड़ है वहां मक्खियां तो आएंगी ही।

सिचुएशन भेद

बिना गीतों के भारतीय फ़िल्मों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फ़िल्म में कहानी ना हो तो एक बार काम चल सकता है, लेकिन बिना गीतों के फ़िल्म एक कदम नहीं चल सकती। अब तक आजमाई गई फ़िल्मी सिचुएशनें निम्न प्रकार हैं-

युगल गीत

युगल गीत भारतीय फ़िल्म का एक अनिवार्य अंग है। फ़िल्म में कहानी हो या न हो, युगल गीत जरूर होता है। जिसे नायक और नायिका, कभी दौड़ते-भागते, कभी खड़े-खड़े, तो कभी कुश्ती लड़ते हुए, किसी बगीचे में, कहीं वीराने में या फिर छत पर खड़े होकर गाते हैं। नायक-नायिका अगर स्टूडेन्ट हैं तो फिर कॉलेज का कम्पाउंड युगल गीत के लिए सबसे उपयुक्त जगह है। अब वह दिन दूर नहीं, जब नायक-नायिका क्लास रूम में टीचर की उपस्थिति में युगल गीत गाएंगे।

जब नायक-नायिका कॉलेज में युगल गीत गाते हैं तो कॉलेज के बाकी लड़के-लड़कियां भी उन्हें भरपूर सहयोग देते हैं। ''अरे बेवकूफ! तुम क्यों 'बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना' बन रहे हो। तुम तो क्लास में जाकर बैठो, कुछ पढ़ाई-वढ़ाई करो। तुम्हारे बाप के फीस के पैसे बेकार जा रहे हैं।''

जब किसी बगीचे में युगल गीत होता है तो बगीचे में नायक-नायिका के अलावा कोई नहीं होता। सबसे बगीचा खाली करवा लिया जाता है, जैसे बगीचा इनके बाप का हो।

इन युगल गीतों का मुख्य स्वर या विषय होता है- 'साथ जिएंगे-साथ मरेंगे।' अरे भाई, साथ जीने की बात तो समझ में आती है, मगर साथ मरने वाली कुछ जंची नहीं। तुझको मरना है तो मर, उसको साथ लेके क्यों मर रहा है? तू उसका प्रेमी है कि दुश्मन।

सोलो गीत

सोलो गीत यानी वह गीत, जो नायक-नायिका या किसी अन्य द्वारा अकेले गाया जाता है। जहां तक किसी अन्य का सवाल है, जब तक फ़िल्म में नायक और नायिका मौजूद हैं, तब तक सोलो गीत गाने के लिए किसी अन्य की बारी नहीं आ सकती। कोई अन्य अगर सोलो गीत गाएगा तो नायक-नायिका को क्या झख मारने के लिए रखा गया है।

सोलो गीत गाना बड़े फ़ख्र और सम्मान की बात माना जाता है। एक आदमी गा रहा है, पूरी दुनिया सुन रही है। नायक को नायक और नायिका को नायिका बनाने में सोलो गीत का बड़ा योगदान रहा है। अभी-अभी एक ने दूसरे को देखा, एक ने दूसरे को पसंद किया और अगले ही क्षण गीत के बोल तैयार! बोल क्या, धुन और म्यूज़िक पीस सब कुछ तैयार। गाना सुनकर

भोला-भाला दर्शक गाने वाले या वाली पर निछावर हो जाता है, उसकी प्रतिभा का कायल हो जाता है।

पूरा घर गीत गाता है

कभी-कभी किसी फ़िल्म में पूरा परिवार मिलकर गीत गाता है, मां-बाप, भाई-भाभी, बहन सब गाते हैं, सबके सब एक से बढ़कर एक सुरीले, पूरा खानदान संगीतमय। स्वर्गीय तानसेन और बैजू बावरा भी गाते थे, लेकिन यह सौभाग्य तो उन्हें भी प्राप्त नहीं था। इतने में क्या देखते हैं कि घर का नौकर भी गाने में शामिल हो गया। एक पूरा अन्तरा उसके लिए अलग रखा हुआ है। दुनिया के बड़े-बड़े लोकतांत्रिक देश नोट करें, नौकरों के लिए ऐसी आज़ादी और अधिकार, किसी अन्य देश में मिलता है क्या?

इस तरह के गीत की एक और खास बात होती है। यह गीत जब भी होगा, फ़िल्म की शुरू की रील में होगा। ज्यों ही पूरा परिवार मिलकर गाने लगता है, टैलेन्टेड और दूरदर्शी भारतीय दर्शक समझ जाता है कि इस परिवार पर कोई मुसीबत आने वाली है, वरना सब मिलकर क्यों गाते और फिर वही होता है। अगली ही रील में उस परिवार का कोई सदस्य या तो मारा जाता है या हमेशा-हमेशा के लिए बिछुड़ जाता है या फिर भरे-पूरे खानदान की खुशहाली को किसी दुश्मन की नजर लग जाती है।

ऐसे गीत का एक 'दु:खद वर्जन' भी होता है, जो थोड़ी देर बाद उस खानदान की खुशहाली को याद करके या बिछड़े सदस्य को याद करके, बैक ग्राउन्ड में दु:खद धुन में बजाया करता है, जिसे सुनकर भारतीय दर्शक के हृदय में करुणा हिलोरें लेने लगती है।

सैड सांग (दर्दभरे गीत)

दु:ख और करुणा का भारतीय दर्शन में एक विशेष स्थान है। हमारी पौराणिक कथाओं एवं लोक कथाओं में इनका सजीव चित्रण देखने को मिलता है। पुरानी फ़िल्मों में भी दु:ख और करुणा वाले विषय ही ज्यादा होते थे। फ़िल्म में करुणा और दु:ख को उभारने का सबसे सशक्त तरीका होता है-सैड सांग। पुरानी फ़िल्मों में एक नहीं, कई-कई सैड सांग होते थे, नायक ने सैड सांग गाकर अभी सांस भी नहीं ली होती है कि नायिका सैड सांग गाने लगती है और सच बात तो यह है कि इन गानों की वजह से फ़िल्में चलती थीं। आज फ़िल्म में एक सैड गाना रख लो, पूरी फ़िल्म को ही ले बैठे। कहां गई वह सैड सांग वाली संस्कृति? बुजुर्ग लोग सही कह रहे हैं कि हम लोग अपनी संस्कृति को खोते जा रहे हैं।

इस संस्कृति के खोने का एक कारण और भी है। सैड सांग संस्कृति की जगह अब घूंसा संस्कृति ने ले ली है। पहले का नायक अपने ऊपर होने वाले अन्याय के एवज में एक सैड सांग गाकर अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ, मान लेता था। आज का नायक ऐसा नहीं करता। वह सैड गीत की जगह घूंसे चलाता है, ढिशुम्...ढिशुम्...!

मुजरा

आज की फ़िल्मों से मुजरा भी डायनासोर की तरह लुप्त-सा हो गया है। मुजरे की जगह अब डिस्को और रैप ने ले ली है, वरना पहले की फ़िल्मों में निर्माता, डिस्ट्रीब्यूटर को फ़िल्म बेचते वक्त बड़े गर्व से कहता था कि ''हुजूर, इस फ़िल्म में चार मुजरे रखे हैं।'' मुजरा फ़िल्म की सफलता की गारन्टी होता था। आज डिस्ट्रीब्यूटर निर्माता से फ़िल्म खरीदने से पहले पूछता है कि ''हुजूर, इस फ़िल्म में मुजरा-वुजरा तो नहीं डाला है ना?''

यहां भी दर्शक का पतन हुआ है। पहले का दर्शक कुछ ठरकी किस्म का था। उसकी पसंद नवाबों जैसी थी, चाहे वह मजदूर ही क्यों नहीं हो दिन-भर मजदूरी की, शाम को टिकट लेकर पहुंच गए 'पाकीजा' देखने। मीना कुमारी मुजरा कर रही है पर्दे पर, सामने नवाब साहब तने हुए बैठे हैं सिनेमा हॉल में। वह मजदूर नवाब साहब से भी ज्यादा तना हुआ मीना कुमारी के मुजरे का लुत्फ उठा रहा है। हाय, कहां गया वह मुजरा? कहां गए वे लोग?

होली गीत

एक गरीब गांव का सेट लगा हुआ है। पूरा गांव किसी ठाकुर या डाकू के आतंक के साए में जी रहा है। अभी-अभी एक सीन में एक गरीब ने इस गांव की गरीबी का रोना रोते हुए कहा था कि लोग भूखों मर रहे हैं, खाने के लिए अनाज का दाना तक नहीं है, तभी होली का सीन आता है। वे ही गरीब लोग नायक के साथ होली का गीत गाते हैं और इतना रंग बर्बाद करते हैं, इतना रंग उड़ाते हैं कि हैरानी होती है, इतना रंग आया कहां से। अभी-अभी तो तुम्हारे पास खाने को अनाज का दाना तक नहीं था और अब छोकरियां कतारबद्ध होकर, रंगीन और मैचिंग ड्रेस पहनकर ऐसे नाच रही हैं, जैसे इस गांव में बड़ी खुशहाली है। एक होली का गीत सब कुछ बदल देता है, गरीब को अमीर बना देता है।

होली के गीत में एक और खासियत होती है। रंग उड़ रहे हैं, पिचकारियां छूट रही हैं, गाल रंगे जा रहे हैं, जो कि सिर्फ होली में ही होता है, फिर भी गीत में एक पंक्ति जरूर होती है, 'होली है', ताकि दर्शक समझ जाए कि होली है।

राखी गीत

राखी का गीत बड़ा ही पावन और पवित्र माना जाता है। जिस तरह फ़िल्मों से पावनता और पवित्रता विदा हुई, उसी तरह फ़िल्मों से राखी का गीत भी विदा हो गया। अब फ़िल्मों में बहन तो होती है, लेकिन राखी का गीत नहीं होता, वरना एक जमाने में राखी का एक गीत रिज़र्व होता था। जितनी रंग-बिरंगी राखी, उतनी ही रंग-बिरंगी बहन, पर मजाल है कि मन में जरा भी खोट आ जाए। भैया कहीं बहना की शादी की बात भूल न जाए, इसलिए बहना बड़ी चतुराई से राखी के गीत की किसी लाइन में अपने परदेस जाने की बात कहकर याद करा देती थी। भाई-बहन के प्यार में गाना बहन ही गाए तो ठीक है, वरना भाई तो गड़बड़ भी गा सकता है। एक फ़िल्म में

एक भाई गाना गाता है, 'एक हजारों में मेरी बहना है, सारी उमर हमें संग रहना है।' कोई उससे जाकर पूछे कि सारी उमर संग रहने का क्या मतलब? बहन को कुंआरी रखेगा क्या?

यूं ही गाने के लिए गाना

एक बहुत पुरानी कहावत है कि बैठा बनिया क्या करेगा, इधर का बाट उधर धरेगा। ठीक वैसे ही कह सकते हैं कि बैठा नायक क्या करेगा, कोई गाना गा के रहेगा। आपने ऐसे कई गाने सुने होंगे, जिसमें नायक यूं ही गाने के लिए गाना गाता है। वह नहीं गाए तो भी काम चल सकता है। न कोई सुन रहा है, न कोई कारण है, फिर भी गा रहा है। गाने की हुड़क उठती है या यूं कह सकते हैं कि गाना गाने की खुजली चलती है तो उसे गाना पड़ता है।

इसमें कभी वह मौसम की तारीफ कर देता है, तो कभी सुहाने सफर की खबर दे देता है या ज्यादा करो तो अपने अकेले होने का रोना रो लेता है।

ऐसे गाने की सिचुएशन निकालने के लिए ज्यादा मेहनत करने की जरूरत नहीं पड़ती, यह बिन बुलाए मेहमान की तरह कभी भी, कहीं भी आ सकता है।

टाइटल सांग

टाइटल सांग फ़िल्म के नाम को हिट करने के लिए रखा जाता है। गाने के अन्दर एक बार फ़िल्म का नाम आ जाए तो सबको याद हो जाता है, जैसे एक फ़िल्म का नाम है, 'एक दूजे के लिए,' तो टाइटल सांग बना, 'हम बने तुम बने, एक दूजे के लिए।' जैसे एक अन्य फ़िल्म का नाम है 'जंगली', तो टाइटल सांग बना, 'चाहे कोई मुझे जंगली कहे।' टाइटल सांग अच्छा हो तो ठीक है, नहीं तो बर्दाश्त करना मुश्किल हो जाता है। कुछ समझदार निर्देशक टाइटल सांग को शीर्षक के साथ ही फ़िल्मा देते हैं।

कुछ निर्माता किसी हिट हो चुके गीत पर अपनी फ़िल्म का शीर्षक रख देते हैं। दर्शक जब उस गाने को फ़िल्म में नहीं पाता तो अपना माथा ठोंक लेता है। आदमी लेबल से धोखा खा जाता है।

पार्टी सांग

फ़िल्म में एक और बहुत ही जानी-पहचानी सी सिचुएशन होती है, वह है, पार्टी सांग की सिचुएशन। नायिका का जन्मदिन हो तो पार्टी सांग हो जाता है। नायक-नायिका की मंगनी होनी हो तो पार्टी सांग हो जाता है। नायक-नायिका की मंगनी टूटनी हो तो पार्टी सांग हो जाता है। पार्टी सांग में या तो रंग जमता है या रंग में भंग पड़ता है।

पार्टी सांग की सिचुएशन में जो हॉल दिखाया जाता है, उस हॉल के एक कोने में पियानो जरूर रखा होता है, जिसे नायक जन्म से ही बजाना जानता है।

पार्टी सांग में नायक चाहे खुशनुमा सांग गा रहा हो चाहे सैड सांग गा रहा हो, उस गाने के

गूढ़ अर्थ सिर्फ नायिका की ही समझ में आते हैं। पार्टी में आए बाकी बौड़म मेहमान तो सिर्फ मंद-मंद मुस्कराते हैं। वे समझते हैं नायक कोई दार्शनिक गीत गा रहा है, जबकि हकीकत कुछ और ही होती है। नायिका कल नायक से मिलने नहीं आई थी, वह इस बात का रोना रो रहा होता है।

कुछ फॉर्मूले

फ़िल्में बनते हुए सौ साल हो गए। इन सौ सालों में सैकड़ों लोगों ने सफल फ़िल्म बनाने के कई फॉर्मूले बनाए और आजमाए। कुछ फॉर्मूले एक-आध फ़िल्म तक चले। कुछ फॉर्मूले एक-आध दर्जन फ़िल्मों तक चले। कुछ फॉर्मूले थोड़े-थोड़े सालों के बाद आज भी आजमाए जाते हैं। वैसे तो कोई एक सफल फॉर्मूला आज तक नहीं बन पाया है, फिर भी चंद लोकप्रिय फॉर्मूले निम्नलिखित हैं-

लव स्टोरी

वैसे तो फ़िल्म का मतलब ही लव स्टोरी होता है लेकिन जो 24 कैरेट प्यार पर बनी हो, उसे लव स्टोरी कहते हैं, जैसे लैला-मजनूं, सोहनी-महिवाल, हीर-रांझा, बॉबी वगैरह-वगैरह। लैला-मजनूं पुराने पैटर्न की और बॉबी आधुनिक पैटर्न की मदर लव स्टोरी मानी जाती है।

एक नया या पुराना निर्माता, जिसके फ़िल्म बनाने का कोई मकसद नहीं हो। बस, एक फ़िल्म बनानी है, फ़िल्म बनाए बिना रह ही नहीं सकता। वह जब भी फ़िल्म बनाएगा, तीन घंटे की फ़िल्म यानी थोड़ा-सा प्यार, थोड़ी-सी कहानी, थोड़े-से गाने और सेंसर की कृपा हो तो थोड़ी-सी अश्लीलता। बस, बन गई लव स्टोरी!

कम्यूनिस्ट नायक की लव स्टोरी

सिनेमा के आविष्कार के साथ ही दुनिया में कम्यूनिज्म का आगमन हुआ था। थोड़े सालों बाद फ़िल्मों में एक अवतार पुरुष आया, चार्ली चैपलिन। उधर दुनिया-भर में पूंजीवाद के खिलाफ आवाज उठने लगी थी। तभी स्वर्गीय के.ए. अब्बास और स्वर्गीय राजकपूर साहब ने भारतीय सिनेमा को एक बहुत हिट फॉर्मूला और प्यारा नायक दिया। वह नायक गरीब था, पढ़ा-लिखा था, ईमानदार था और बेरोजगार था। चैपलिन के स्टाइल में, समाजवादी विचार में और राजकपूर के भोले अंदाज में ढल कर वह नायक लोगों के दिल में उतर गया। उस गरीब नायक ने ईमानदारी का संदेश देते हुए अमीर लड़की से प्रेम करके जब पूंजीवाद पर जीत पाई तो देश के हजारों गरीब और बेरोजगार युवकों ने उस नायक में अपने आपको देखा। हालांकि वे युवक गरीब और बेरोजगार ज़रूर थे, लेकिन पढ़े-लिखे और ईमानदार भी थे, यह डाउटफुल था। मगर यह गरीब नायक वाला फॉर्मूला विदआउट डाउट हिट था।

पारिवारिक फॉर्मूला

प्रेम कहानी के बाद सबसे ज्यादा चलने वाला फॉर्मूला है पारिवारिक फॉर्मूला, इस फॉर्मूले को हम मद्रासी फॉर्मूला भी कह सकते हैं। पंजाबी बैक ग्राउंड वाले निर्माताओं ने मस्ती वाली प्रेम कहानियां दीं तो बंगाली बैक ग्राउंड वाले निर्माताओं ने दुखी प्रेम कहानियों वाली फ़िल्में दीं। तब मद्रासी बैक ग्राउंड वाले निर्माताओं ने एक से बढ़कर एक पारिवारिक पृष्ठभूमि वाली फ़िल्में दीं।

पारिवारिक पृष्ठभूमि की फ़िल्म, मतलब एक हंसते-खेलते बड़े परिवार का टूटना और

जुड़ना। कुछ कुटिल सदस्य और कुछ भले सदस्य, ढेर सारे आंसू और उसमें थोड़ा-सा हास्य का तड़का। वह फॉर्मूला पहले भी चलता था और आज भी चलता है। 'हम आपके हैं कौन' फ़िल्म की सफलता ने तो पारिवारिक फ़िल्मों के फॉर्मूले पर सफलता की गारंटी का ठप्पा लगा दिया। इस फ़िल्म ने तो मार-धाड़ और सेक्स बेचने वालों के खोमचे ही उठवा दिए।

त्रिकोणीय प्रेम

पारिवारिक फ़िल्मों के बाद प्रेम कहानियों ने एक करवट बदली। दो प्रेमियों के बीच से एक खलनायक को हटाकर तीसरा प्रेमी जोड़ दिया तो लव ट्राइएंगल बन गया-प्रेम त्रिकोण। महबूब साहब ने 'अंदाज' बनाई, जो खूब चली। फिर राज साहब ने 'संगम' बनाकर इस फॉर्मूले को स्थायी हिट बना दिया। उसके बाद यश चोपड़ा जी ने इस फॉर्मूले को परमानेन्ट अपनाया और खूब फूले-फले।

लव ट्राइएंगल वाले फॉर्मूले में एक प्रेमी का प्रेम सफल होता है तो दूसरे को त्याग करके मरना पड़ता है। एक तरफ पंजाब की मस्ती भरा प्रेम आ गया तो दूसरी तरफ बंगाल का दुखांत प्रेम भी आ गया, ऊपर से हिट संगीत का तड़का दे दो तो फिर हींग लगे ना फिटकरी, रंग चोखा ही चोखा।

याद्दाश्त जाना

फिर आया नासिर हुसैन का हिट फॉर्मूला, याद्दाश्त जाने वाला। अच्छी-खासी प्रेम कहानी चल रही है, नायक और नायिका ने अभी-अभी साथ मरने की कसमें खाई हैं कि अचानक नायक के सिर में चोट लगती है। नायक उठते ही दो हास्यापद सवाल पूछता है, ' मैं कौन हूं? मैं कहां हूं?' उसके आगे क्या होता है, हम सभी अच्छी तरह जानते हैं।

ठीक होने पर नायक माथे पर एक क्रॉस बैंड एड लगाता था। अकसर माथे पर लगी क्रॉस पट्टी नायक को इतनी फबती थी कि लोग बिना चोट के भी ललाट पर वैसी पट्टी लगाने लगे, एक फैशन बन गया था। फैशन क्यों नहीं बने, वह पट्टी नायक ने जो लगाई थी। याद्दाश्त जाने का फॉर्मूला भी हिट और माथे पर पट्टी लगाने का फैशन भी हिट।

लोकेशन प्रधान फॉर्मूला

जब आदमी हिट होना चाहता है तो क्या-क्या प्रयोग नहीं करता? पहले हमारे निर्माताओं ने सिर्फ प्रेम के तत्त्व को लिया, फिर प्रेम को त्रिकोण दिया, फिर उसके बाद मुखर्जी बंधुओं ने प्रेम को एक हिल स्टेशन दिया 'शिमला' तो फॉर्मूला बना 'लव इन शिमला'।

यह फॉर्मूला भी खूब चला। दर्शक को करने के लिए प्रेम और घूमने के लिए हिल स्टेशन, दोनों एक ही फ़िल्म में मिल गए यानी एक ही टिकट में दो मजे। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी फ़िल्म। कहानी वही, नायक-नायिका की पूरी जोड़ी वही, लोकेशन बदल दी 'लव

इन कश्मीर', 'लव इन टोक्यो' वग़ैरह-वग़ैरह। इसी पैटर्न पर जौहर- महमूद की जोड़ी ने भी कई पर्यटक स्थलों की सैर कराई। 'लव इन टोक्यो' में लव में कॉमेडी का तड़का लगाया था और 'जौहर-महमूद इन हांगकांग' में कॉमेडी में लव का तड़का लगा था।

खोना और पाना

लोकेशन वाले फॉर्मूले के बाद एक और हिट फॉर्मूला आया, 'खोना और पाना', बिछुड़ना और मिलना। दो भाई एक साथ स्कूल में पढ़ने गए, शहर में दंगा हुआ, दोनों बिछुड़ गए। एक अमीर आदमी को मिला, दूसरा गरीब आदमी को मिला या फिर एक बच्चा पुलिस अफसर ने पाल कर बड़ा किया तो दूसरे को एक स्मगलर ने पढ़ा-लिखाकर बड़ा किया। आगे क्या होता है? एक अज्ञानी-से-अज्ञानी दर्शक बता सकता है।

यह फॉर्मूला स्व. मनमोहन देसाई की याद दिलाता है। वह बड़ी चतुराई से दो भाइयों को बिछुड़वाते थे और बड़ी होशियारी से वापस मिलन करवाते थे, दो भाइयों से भी जब उनका जी नहीं भरा तो 'अमर अकबर एन्थनी' में उन्होंने तीन-तीन भाइयों को बिछुड़वाया और मिलवाया। पहले दर्शक को रुलाया फिर मुआवजे में बहलाया, बीच में कॉमेडी मुफ्त।

जानवर प्रधान फॉर्मूला

सत्तर के दशक में चिनप्पा देवर ने 'हाथी मेरे साथी' बनाकर सारे फ़िल्म पंडितों को सकते में डाल दिया। पुराने टार्जन का कायाकल्प करके राजेश खन्ना को आधुनिक टार्जन बनाया, हाथियों से हंसाने के कारनामे करवाए। एक बार तो जानवर कलाकारों को इंसान कलाकारों की बराबरी पर ला खड़ा किया। जानवर प्रधान फॉर्मूला चल निकला, फिर 'गाय और गौरी', 'नागिन' और पता नहीं क्या-क्या। कई जानवर प्रधान फ़िल्में बनीं।

पिछले सालों में 'तेरी मेहरबानियां' फ़िल्म बनी थी, जिसमें साइड हीरो जैकी श्रॉफ थे और मुख्य नायक एक कुत्ता था। एक बार फिर जानवर प्रधान फॉर्मूले ने असर दिखाया। एक कुत्ते ने के.सी. बोकाड़िया की ज़िन्दगी में चार चांद लगा दिए।

बदले (रिवेन्ज) का फॉर्मूला

अब तक जितने फॉर्मूले लेकर निर्माता चले, उनमें सबसे राम-बाण फॉर्मूला सिद्ध हुआ, बदले का फॉर्मूला। ये सब फॉर्मूलों का बाप निकला। जिस फ़िल्म में देखो, हर कोई किसी-न-किसी से बदला ले रहा है। लोग क्षमा और अहिंसा को भूल गए, घूंसों और गोलियों वाली फ़िल्मों पर दर्शक टूट पड़े। गौतम और गांधी का देश फ़िल्मों के धरातल पर पूर्ण हिंसक हो गया।

आज एक-आध फ़िल्म को छोड़ दें तो 99.9 प्रतिशत फ़िल्में बदले के फॉर्मूले पर बन रही हैं। इस फॉर्मूले की शुरुआत किस फ़िल्म से हुई, यह तो ठीक से मालूम नहीं, लेकिन 'जंजीर' फ़िल्म बदले के फॉर्मूले की गंगोत्री मानी जाती है और अमिताभ बच्चन ऐसी फ़िल्मों के भगीरथ

माने जाते हैं।

मिक्स भाजी फॉर्मूला

एक निर्माता जिसका कोई फॉर्मूला नहीं होता, उसका एक ही फॉर्मूला होता है, 'मिक्स भाजी फॉर्मूला।' वह फॉर्मूला है भी और नहीं भी है। न इधर, न उधर, एकदम मध्यमार्गीय, भारतीय दर्शन की तरह सब चीज़ों का मिक्सचर, जैसे मिक्स भाजी में सब सब्जियां पड़ती हैं, वैसे ही 'मिक्स भाजी फ़िल्म' में फ़िल्मों के सब तत्त्व पड़ते हैं, रोमांस, मार-धाड़, नृत्य, संगीत, कॉमेडी वग़ैरह-वग़ैरह।

ऐसी फ़िल्में न हिट होती हैं, न डूबती हैं। एक निर्माता को बैठे-बैठे हुड़क उठती है कि चलो, एक फ़िल्म बना ली जाए तो एक 'मिक्स भाजी फ़िल्म' बन जाती है। ऐसी फ़िल्मों के दर्शक भी ऐसे ही होते हैं। शनिवार की शाम को एक परिवार को बैठे-बैठे हुड़क उठती है कि चलो, एक फ़िल्म देख ली जाए और एक 'मिक्स भाजी फ़िल्म' देख ली जाती है।

दर्शक भेद

फ़िल्मी कलाकारों की तरह, फ़िल्मी बातों की तरह, हमारी फ़िल्मों के दर्शक भी बड़े मजेदार और कई वैरायटीज़ के होते हैं।

पहला शो देखने वाले दर्शक

कुछ दर्शक होते हैं जो नई फ़िल्म का पहला शो देखना पसंद करते हैं, सिर्फ पसंद ही नहीं करते, देखते भी हैं और देखकर आने के बाद ऐसे गर्व से बताते हैं, जैसे पहला शो देखकर नहीं, बल्कि एवरेस्ट पर चढ़कर आ रहे हों, 'पुलिस कमिश्नर से पहचान है। फोन कर दिया, बालकोनी के दो टिकट रखवा देना पहले शो के।' या कहेंगे, 'पहला दिन, पहला शो देखना है तो देखना है।' ब्लैक वाले ने दो सौ मांगे तो कहा, 'यह ले। तू तो टिकट निकाल, फालतू का टेन्शन नहीं।'

अरे भाई! चाहे पहले दिन देखो, चाहे आखरी दिन, फ़िल्म तो वही रहनी है लेकिन नहीं साहब, खुद पहला शो देखकर अकड़े-अकड़े घूमेंगे और बाद में देखने वालों को ऐसी हेय नजर से देखेंगे, जैसे वे इनकी जूठन खाकर आ रहे हों।

डूबकर फ़िल्म देखने वाले दर्शक

डूबकर फ़िल्म देखने वाले दर्शक वास्तव में सच्चे दर्शक होते हैं। फ़िल्म देखते हुए कोई इनके हाव-भाव की शूटिंग कर ले तो वह फ़िल्म असली फ़िल्म से ज्यादा मजेदार लगे। ये फ़िल्म के पात्रों के संग हंसते हैं, उनके दु:ख-दर्द से एकाकार हो जाते हैं। कुछ दर्शक तो नायक की पीठ पर पड़ने वाले कोड़े को अपनी पीठ पर महसूस करके चीख पड़ते हैं।

नायिका को खलनायक छेड़ता है तो मन-ही-मन ऐसे दर्शक खलनायक को चेतावनी देते हैं कि 'मान जा, मत छेड़ अकेली लड़की को। अभी आएगा तेरा बाप (नायक) और तुझे इतना मारेगा, इतना मारेगा...।' इतने में नायक आकर खलनायक की धुनाई शुरू करता है। वह दर्शक लाला अमरनाथ की तरह स्पेशल कमेंट करता है, 'मैंने कहा था, मान जा, मत छेड़ अकेली लड़की को, अब छेड़ा है तो भुगत। दे ढिशुम! ढिशुम!'

प्रेमिका के साथ फ़िल्म देखने वाले दर्शक

एक आदमी टिकट खिड़की पर आकर टिकट मांगे कि 'पिछली रो में कॉर्नर वाली दो सीट देना', तो समझ लेना कि वे प्रेमी-प्रेमिका हैं। अब बगीचे और रेस्टोरेन्ट्स वग़ैरह प्रेम के लिए इतने माफिक नहीं रह गए हैं, जितने कि सिनेमा हॉल हैं।

उधर पर्दे पर अक्षय कुमार रवीना टंडन को पटाए, उससे पहले ही इनका हाथ अपनी रवीना टंडन के कंधे पर पहुंच चुका होता है। ऐसे दर्शक हॉल में जाने से पहले फ़िल्म का नाम जानना

भी जरूरी नहीं समझते। बस, पिछली रो में कॉर्नर वाली सीट मिलनी चाहिए और अगर वह सीट नहीं मिले तो फिर ऐसे दर्शक फ़िल्म ही देख लेते हैं।

मारधाड़ वाली फ़िल्म के दर्शक

मारधाड़ वाली फ़िल्म के दर्शक दूर से ही पहचाने जा सकते हैं। इनकी बांहें चढ़ी हुई और कॉलर उठे हुए होते हैं। हॉल में घुसते ही इनकी चाल में एक खास तरह का रोब शामिल हो जाता है। जो इनकी पर्सनेलिटी को हालांकि सूट नहीं करता, लेकिन आम दर्शक से इनको अलग खड़ा कर देता है। इनके हाव-भाव से ऐसा नहीं लगता कि फ़िल्म देखने आए हों। ऐसा लगता है, जैसे नायक की तरफ से लड़ने आए हैं।

फ़िल्म से निकलने के एक से डेढ़ घंटे तक ऐसे दर्शकों पर मारधाड़ का असर बना रहता है। इस दौरान इनको सावधान रहना चाहिए। किसी से साइकिल टकरा जाने पर इनके मुंह से नायक वाले चुनौती के डायलॉग निकल सकते हैं और फलस्वरूप पिट सकते हैं।

कला फ़िल्म के दर्शक

कला फ़िल्म के दर्शकों का हुलिया, कला फ़िल्म के निर्देशक से हू-ब-हू मिलता है। जींस पर खादी का कुर्ता, बढ़ी हुई दाढ़ी, कंधे पर झोला और चेहरे पर साम्यवादी गुस्सा। यह मुख्यधारा के सिनेमा से वैसी ही नफरत करता है, जैसी मुख्यधारा के सिनेमा का दर्शक कला फ़िल्म से करता है, यानी पगला पूछे नहीं गांव को और गांव पूछे नहीं पगले को।

अव्वल तो कोई कला फ़िल्म थिएटर में ज्यादा दिन चलती नहीं और अगर चल जाए तो कला फ़िल्म का दर्शक खुश होने के बजाय उलटा नाराज हो जाता है कि क्या कलयुग आ गया है। कला फ़िल्म खुलेआम चल रही है। यह तो कला फ़िल्म का सरासर अपमान है।

देखते-देखते कहानी सुनाने वाले दर्शक

देखते-देखते कहानी सुनाने वाले दर्शक उस फ़िल्म को पहले देख चुके होते हैं। अब जिसके साथ वह दर्शक फ़िल्म देखने आया है, उसको उस फ़िल्म की आगे की कहानी सुनाता रहता है, 'अब देखना, नायक भेस बदलेगा।' नायक भेस बदलता है। वह दर्शक अपने सह-दर्शक की तारीफ पाने के लिए उसकी तरफ देखता है। 'अब देखना, नायक खलनायक को बेवकूफ बनाएगा।' इतने में आगे बैठा कोई दर्शक उसे टोकता है, 'ए, ए, कायको सबका मजा किरकिरा कर रहा है, चुपचाप फ़िल्म देख ना।'

वह चुपचाप फ़िल्म देखने लगता है, लेकिन आदत से मजबूर कब तक चुपचाप रह सकता है। मन किलोल कर उठता है, 'देखना, अब नायक गाना गाएगा' और नायक गाना गाने लगता है।

ए सर्टीफिकेट वाली फ़िल्म के दर्शक

ए सर्टीफिकेट वाली फ़िल्म का दर्शक मतलब, एडल्ट (व्यस्क) दर्शक। हमारा देश मूलत: स्वप्नजीवी देश है। हमारे देश का बचपन जवान होने से पहले ही जवान होने के सपने देखने लगता है और जवान होते ही उसके सपने टूटने लग जाते हैं। हमारे जवानों के सपने टूटने की शुरुआत होती है ए सर्टीफिकेट वाली फ़िल्म देखने के साथ। वह इस उम्मीद के साथ हॉल में प्रवेश करता कि आज वह जीवन के सारे रहस्य जान लेगा मगर तीन घंटे बाद ठगा हुआ-सा हॉल से निकलता है, ''क्या मैं बेवकूफ बनाए जाने के लिए एडल्ट हुआ था? इस फ़िल्म में क्या है एडल्ट जैसा?''

फिर वह मृग मरीचिका में फंसे हिरण की तरह और दो-चार ए सर्टीफिकेट वाली फ़िल्मों की तरफ दौड़ता है, मगर सब जगह से प्यासा ही लौटता है। ऐसी फ़िल्में हमारे युवकों को स्वप्न-भंग का अभ्यास करवाती हैं।

फर्जी दर्शक

फर्जी दर्शक का आविष्कार सातवें दशक में मुंबई में हुआ था। निर्माता अपनी फ़िल्म को हाउसफुल दिखाने के लिए मुफ्त में टिकट बांटकर फर्जी दर्शकों को भेजता है। ऐसे दर्शक नाच-गानों पर सीटियां बजाते हैं, फाइट पर तालियां बजाते हैं और फ़िल्म के पक्ष में हवा बनाते हैं।

यह फॉर्मूला कुछ-कुछ, नेताओं द्वारा रैलियों में भीड़ जुटाने जैसा ही मामला है। इसलिए ऐसे दर्शकों को रैली दर्शक भी कह सकते हैं। ये रैली दर्शक हिटलर की देन हैं। हिटलर अपने कैरियर की शुरुआत में अपनी सभाओं में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अपने आदमी बैठा दिया करता था, उन्हें बता दिया जाता था कि भाषण में कहां ताली बजानी है। जब वे फर्जी श्रोता ताली बजाते तो देखा-देखी असली श्रोता भी ताली बजाने लगते और देखते-ही-देखते हिटलर हिट हो गया। फर्जी दर्शक भी कई फ़िल्मों को हिट करा चुके हैं।

जिज्ञासु दर्शक

जिज्ञासु किस्म के दर्शक, अकसर प्रश्नवाचक शीर्षक वाली फ़िल्मों को देखने के लिए अधीर रहते हैं। 'वो कौन थी?', 'अब क्या होगा?' जैसे शीर्षक पढ़कर ऐसे दर्शक ठिठक कर खड़े हो जाते हैं। उनका पूरा अस्तित्व उसी वक्त उस रहस्य को जान लेने के लिए कल्पनाओं में गोते लगाने लग जाता है। जाहिर है, ऐसी फ़िल्में सस्पेन्स फ़िल्में होती हैं।

ऐसा ही एक जिज्ञासु दर्शक सस्पेन्स फ़िल्म 'खूनी कौन?' का टिकट खरीदकर रेस्टोरेन्ट में चाय पीने गया, चाय पीकर हड़बड़ी में बिना टिप दिए ही जाने लगा तो वेटर ने यह बताकर बदला ले लिया कि इस फ़िल्म में खूनी, घर का माली है।

किसी खास कलाकार के दर्शक

किसी जमाने में दिलीप कुमार के अपने दर्शक थे, राज कपूर के अपने दर्शक थे और देवानंद के अपने दर्शक थे। जितना कम्पटीशन आपस में इन कलाकारों में था, उतना ही कम्पटीशन उनके दर्शकों में भी था। मजाल है कि अपने पसंदीदा कलाकार की फ़िल्म पिट जाने दे। वह एक नहीं, कई-कई बार अपने फेवरेट कलाकार की फ़िल्म देखने जाता था।

वह परंपरा आज भी कायम है। ऐसे दीवाने दर्शक फैन क्लब से लेकर मंदिर तक बना डालते हैं, अपनी पसंद के कलाकारों के। खून से खत लिख डालते हैं, जय हो, ऐसे दर्शकों की। भगवान ऐसे दर्शक हर कलाकार को दे।

सिनेमा में प्रयुक्त सवारियां

भारतीय फ़िल्मों में भिन्न-भिन्न समय एवं भिन्न स्थानों पर अलग-अलग कारणों से उपयोग में लाई गई सवारियों की महिमा निम्न प्रकार है-

हेलीकॉप्टर

यह जो हेलीकॉप्टर है, मुझे बहुत पसंद है। जहां मन चाहा, उतार लिया, जिधर चाहा, उधर मोड़ लिया। फ़िल्मों में भी यह बड़ा रोमांच पैदा करता है। नायक जंगल में घोड़े पर भाग रहा है। खलनायक हेलीकॉप्टर से गोलियां बरसा रहा है। दर्शक की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की सांस नीचे रह जाती है। अब क्या होगा? होना क्या है। नायक को आज तक कुछ हुआ है? लेकिन पांच मिनट के लिए हेलीकॉप्टर सबको डरा देता है।

मैंने आज तक किसी फ़िल्म में भले आदमी के पास हेलीकॉप्टर नहीं देखा या हो सकता है कि यह हेलीकॉप्टर सवारी ही ऐसी है कि जो भी इसमें बैठता है, खोटा काम करने लगता है। खलनायक के पास हेलीकॉप्टर आ जाए तो वह तस्करी करने लगता है। नायक को एक घंटे के लिए भी हेलीकॉप्टर मिल जाए तो वह नायिका पटाने निकल पड़ता है, 'आसमान से आया फरिश्ता, प्यार का सबक सिखलाने।' अरे भाई, इतनी देर में तो तुम अपने गांव जाकर बूढ़े मां-बाप का हाल पूछकर आ सकते थे। गांव वालों पर रौब भी पड़ जाता कि छोकरा सपूत निकला। कल तक बस में बैठने के लिए पैसे नहीं थे, आज हवा में उड़ रहा है।

लेकिन नहीं। बुद्धि भ्रष्ट हो गई, हेलीकॉप्टर में जो बैठ लिए। इसी हेलीकॉप्टर में बैठने के बाद रावण का दिमाग खराब हुआ था। सीता माता का अपहरण किया और अपने पूरे कुनबे को ले डूबा। हेलीकॉप्टर शरीफों की सवारी ही नहीं है।

डोली

फ़िल्मों में एक सवारी आपने अकसर देखी होगी, 'डोली'। यह सवारी पूरी तरह नई दुल्हन के लिए रिजर्व्ड होती है। कोई भी लड़की जीवन में सिर्फ एक बार इस सवारी का उपयोग कर सकती है। जो लड़की घर से भागकर शादी करती है, वह हमेशा-हमेशा के लिए इसकी सवारी से चूक जाती है।

ससुराल जाने वाली लड़की को डोली और कार में चुनाव करना हो तो वह डोली का ही चुनाव करती है। हालांकि डोली धीरे-धीरे पहुंचाती है, कार झट से पहुंचा देती है। डोली का भाड़ा ज्यादा लगता है, कार का कम लगता है, फिर क्या कारण है कि दुल्हन डोली को प्राथमिकता देती है।

कारण है, लड़की का डोली चढ़ने का मतलब ही है ससुराल जाना। कार में चढ़के तो कोई भाजी खरीदने भी जा सकती है, कॉलेज भी जा सकती है, अपने ब्वाय फ्रेन्ड से मिलने भी जा

सकती है, लेकिन डोली चढ़के लड़की भाजी खरीदने नहीं जा सकती, वह सिर्फ ससुराल जा सकती है।

डोली की इस परंपरा को बस एक ही खतरा है। आज देश में तरह-तरह के आंदोलन चल रहे हैं। किसान नारा लगा रहे हैं कि 'जमीन किसकी? जो जोते उसकी।' इसी तर्ज पर पालकी उठाने वाले कहार कहीं नारा न लगा दें कि 'दुल्हन किसकी? जो पालकी उठाए उसकी।'

बैलगाड़ी

बैलगाड़ी एक दुखदाई सवारी होती है। दुखदाई से मेरा मतलब यह नहीं कि धीरे चलती है, धक्के लगते हैं वग़ैरह-वग़ैरह, यह सब तो है ही। यहां दुःखदाई से मतलब है, वे फ़िल्में जिनमें बैलगाड़ियां होती हैं, दुःख-दर्द से भरी होती हैं। सबका अन्त दुखान्त होता है। 'देवदास', 'तीसरी कसम', अनोखी रात, आशीर्वाद इन सब में बैलगाड़ियां थीं, इसलिए किसी फ़िल्म में नायक-नायिका मिल न सके। देवदास तो बेचारा बैलगाड़ी में सोया-सोया ही खत्म हो गया।

फ़िल्मों में बैलगाड़ियां लाने का सारा श्रेय बंगालियों को जाता है। बंगालियों से मेरा मतलब बंगाली निर्देशकों से है। अभी जो फ़िल्में गिनाई गईं, उन सब फ़िल्मों के निर्देशक बंगाली थे। इस बात को आप ऐसे भी कह सकते हैं कि जिस किसी भी फ़िल्म में बैलगाड़ी दिखे तो समझिए, उसका निर्देशक कोई बंगाली है, चाहे खोज कर लें।

बैलगाड़ी वाली फ़िल्मों में बैलगाड़ी हांकने वाला जबरदस्त गवैया होता है और वह दार्शनिक गीत गाता है, कभी सवारी के कहने पर तो कभी अपने मन से।

तांगा

फ़िल्मों में तांगा बैलगाड़ी की तरह नायक-नायिका के लिए पनौती सवारी नहीं है। तांगे वाली फ़िल्मों में नायक-नायिका का मिलन जरूर होता है। याद कीजिए 'नया दौर' में दिलीप कुमार तांगा चलाता है। तांगे वाला होने के बावजूद भाई के क्या ठाट थे। अपनी नायिका वैजयंती माला को तांगे में इतना घुमाता है, जितना कोई कार वाला साहब भी क्या घुमाएगा।

और याद कीजिए, फ़िल्म 'शोले' की अपनी बसंती यानी हेमा मालिनी को, वह भी तांगा चलाती है। उसकी घोड़ी का नाम धन्नो था। यह धन्नो नाम इतना लोकप्रिय हुआ, इतना लोकप्रिय हुआ, जितना किसी नायिका का भी नहीं हुआ होगा। मालूम है क्यों? क्योंकि इस फ़िल्म में तांगा था, फिर फ़िल्म के आखिरी दृश्य में हेमा मालिनी का धर्मेन्द्र से लगन होता है। मालूम है क्यों? क्योंकि इस फ़िल्म में तांगा था।

आज तक फ़िल्मी पंडितों का ध्यान पता नहीं इस तरफ क्यों नहीं गया कि फ़िल्म को चलाने में तांगा रामबाण साबित हो सकता है। बड़े-बड़े नायक साइन करते हैं, नायिका साइन करती है, फिर इनके नखरे उठाते हैं। क्या जरूरत है यह सब करने की? फ़िल्म में एक तांगा डालो, फ़िल्म दौड़ने लगेगी।

भैंसा

वैसे भैंसे को अभी तक सवारी होने की मान्यता प्राप्त नहीं हुई है। फ़िल्मों में भी इसका इक्का-दुक्का बार ही उपयोग हुआ है। भैंसा मुख्यत: यमराज की सवारी के रूप में जाना जाता है। यम के नाम के साथ चूंकि एक खौफ जुड़ा हुआ है, इसलिए वह खौफ भैंसे के नाम के साथ भी जुड़ गया। इसे कहते हैं, गलत लोगों के साथ रहने का असर।

वैसे इसे इत्तफाक कहें या भैंसे की इमेज का असर कि जो भी इस पर बैठता है, वह किसी-न-किसी के लिए यम साबित होता ही है। 'मदर इंडिया' में सुनील दत्त ने भैंसे की सवारी की तो सुखी लाला के लिए यम साबित हुआ।

फ़िल्मों में जाकर तो भैंसे ने अपयश ही कमाया, लेकिन राजनीति में आकर भैंसे ने बहुत नाम कमाया। उस पर सवारी करने वाला एक साधारण-सा ग्वाला, एक प्रदेश का मुख्यमंत्री बन गया और जब अखबारों में उस मुख्यमंत्री का भैंसे की सवारी वाला वक्तव्य छपा, तब से भैंसे को कभी आशंका, तो कभी आदर की नजर से देखा जाने लगा है।

कार

कार का हिन्दी फ़िल्मों में बड़ा योगदान रहा है। एक फ़िल्म बनी थी, 'चलती का नाम गाड़ी।' इस फ़िल्म में अशोक कुमार, किशोर कुमार और अनूप कुमार के साथ कार ने भी कॉमेडी की थी। पिछले दिनों बॉलीवुड में एक फ़िल्म बनी थी 'टारजन द वंडर कार'। फ़िल्म में कार ने बहुत बढ़िया अभिनय किया था।

हिन्दी फ़िल्मों में कार का बड़ा दुरुपयोग हुआ है। कार जो कि एक स्थान से दूसरे स्थान तक आराम से पहुंचने के लिए बनी सवारी थी, सड़कों पर बड़ी बेरहमी से दौड़ाई गई। चेंज सीक्वेन्स में खलनायक की कार की ठुकाई खलनायक से ज्यादा होती है, बेचारी नाजुक-सी सवारी को चलाया कम गया, तोड़ा ज्यादा गया। किसी-किसी सीन में पहाड़ से लुढ़काकर पटाखे की तरह धमाके के साथ जलाया गया, किसलिए? दर्शक के मनोरंजन के लिए। भारतीय फ़िल्म के इतिहास में कार का बलिदान स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए। आज कारों की कारों के ऊपर से छलांग और पचासियों कारों का आसमान में उड़ना और बमों के धमाके के साथ फटकर धू-धू जल उठना, फ़िल्मी कारों की नियति बन चुकी है।

घोड़ा

घोड़ा एक रौबदार सवारी माना जाता है, इसलिए इस पर या तो वह बैठता है, जो खुद रौबदार हो या वह बैठता है, जो रौब डालना चाहता है। आपने कभी विचार किया है कि आदमी जब शादी करने जाता है तो दूल्हा बनके घोड़े पर ही क्यों बैठता है। इससे दूल्हे का ससुराल वालों पर रौब पड़ जाता है। दूल्हा घोड़े पर बैठने से पहले दूल्हा होता है। घोड़े पर बैठते ही दूल्हा राजा हो जाता है। कभी-कभी घोड़े वाला घोड़े को इतना सजाता है कि उस पर बैठने वाला दूल्हा

कितना भी सज-धज लेने के बावजूद भी फीका-सा लगता है, मिसफिट लगता है। इसलिए वह सेहरा पहन लेता है। सेहरे का आविष्कार इसलिए ही हुआ था शायद।

घोड़े का भी फ़िल्मों में बड़ा योगदान रहा है। फ़िल्मों में एक होता है बिगड़ैल घोड़ा। उसने कई नायिकाओं को नायक के सामने समर्पण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बिगड़ैल नायिका अपनी हेकड़ी में आकर बिगड़ैल घोड़े पर बैठकर चाबुक जमा देती है। फिर क्या? घोड़ा हवा से बातें करने लगता है। नायिका लगाम खींच रही है, चीख रही है, 'बचाओ-बचाओ,' चिल्ला रही है। घोड़ा रुकने का नाम नहीं लेता। इतने में शरीफ नायक, शरीफ घोड़े पर बैठकर आता है और नायिका के प्राण बचाता है। नायिका हमेशा-हमेशा के लिए नायक की हो जाती है। यह सब बिगड़ैल घोड़े के प्रताप से ही तो होता है।

गधा

गधा भी कभी-कभार की जाने वाली सवारी है। दिलीप कुमार और दूसरे गंभीर किस्म के नायक के अलावा कई नायकों ने गधे की सवारी की है और लोगों को हंसाया है। गधा खुद गंभीर रहने वाला प्राणी है, मगर जब भी कोई इसकी सवारी करता है तो हास्य रस पैदा होता है। घोड़ा वीर रस की सवारी है तो गधा हास्यरस की सवारी है। मगर उसी गधे पर बोझ लाद दो तो करुण रस पैदा हो जाता है। यानी हास्य से करुणा तक की रेंज सिर्फ चंद कलाकारों में होती है। मगर अफ़सोस, गधे के इस टैलेंट को अभी तक किसी ने रेखांकित नहीं किया।

गधा बड़ा सहनशील कलाकार होता है। एक फ़िल्म में एक सीन था। एक दुष्ट और मक्कार नेता को अपमानित करने के लिए गांव के कुछ युवक उसे गधे पर बैठा कर गलियों में घुमाते हैं, पीछे बच्चों की भीड़ और आगे गधे पर बैठा नेता। मैंने दोनों के एक्सप्रेशन देखे। गधा नेता से ज्यादा अपमानित लग रहा था, जैसे कह रहा हो, इस नेता को अपमानित करने के लिए कोई दूसरा तरीका क्यों नहीं ढूंढ लेते? मेरे ऊपर बैठाने से इसका अपमान कम हो रहा है, मेरा अपमान ज्यादा हो रहा है।

रथ

रथ शुद्ध पौराणिक फ़िल्मों की सवारी है, जिसमें या तो देवता सवारी करते हैं या राक्षस सवारी करते हैं। रथ में एक से अधिक घोड़े जुते होते हैं। अगर एक घोड़ा जोत लो तो फिर रथ और तांगे में फर्क क्या रह जाएगा? एक घोड़ा जुते रथ में बड़ा-से-बड़ा देवता या बड़ा-से-बड़ा राक्षस बिठाकर देख लो, सब मुकुट-वुकुट धरे रह जाएंगे, सीधा तांगेवाला नजर आएगा।

एक पौराणिक फ़िल्म में मैंने देखा था, एक देवता के पास उड़ने वाला रथ था और उस रथ में घोड़े भी जुते हुए थे। जब रथ उड़ता था, तो घोड़े भी साथ उड़ते थे। पता नहीं, घोड़े उड़ रहे थे या रथ उड़ रहा था। लगता है, रथ और घोड़ों का चोली-दामन का साथ होता है। घोड़ों के बिना रथ, रथ ही न लगे, वरना उड़ने वाले रथ में घोड़ों की क्या जरूरत? हमारे देश में फिजूलखर्ची हमेशा से रही है, चाहे वह देवताओं का जमाना रहा हो, चाहे नेताओं का जमाना हो।

रेल

रेल दो तरह की होती हैं। एक रेल वह, जो हमारे देश में चलती है। दूसरी वह, जो फ़िल्म के पर्दे पर चलती है, दोनों के चरित्र में रात-दिन का फर्क होता है। पहली तरह की रेल, समय पर कम ही चलती है, दूसरी तरह की रेल लेट कम ही होती है। पहली तरह की रेल जब चाहे पटरी से उतर जाती है। दूसरी तरह की रेल कहानी की डिमांड हो तो ही पटरी से उतरती है।

पहली तरह की रेल में यात्रा करना हो तो एक महीना पहले रिजर्वेशन कराना पड़ता है, जबकि दूसरी तरह की, यानी पर्दे की रेल में, इधर नायिका घर से रूठकर तथा एक चिट्ठी लिखकर निकली और अगले ही पल रेल में बैठी हुई नजर आती है, वह भी खिड़की वाली सीट पर।

वास्तविक रेल में भिखारी गाना गाकर भीख मांगता है। पर्दे की रेल में नायक गाना गाकर नायिका का दिल मांगता है।

मौसम भेद

फ़िल्मों पर मौसम का और मौसम पर फ़िल्मों का प्रभाव शुरू से पड़ता आया है। वैसे हम सब जानते हैं कि साल में चार मौसम होते हैं। सर्दी, गर्मी, बरसात और बसंत, लेकिन फ़िल्मों में ये चारों ही मौसम जैसे और होते हैं वैसे ही हों, यह जरूरी नहीं है तो देखते हैं, कैसे होते हैं ये मौसम भेद-

सर्दी

फ़िल्मों में अव्वल तो सर्दी का मौसम आता नहीं और आ जाए तो सर्दी के मौसम में सर्दी पड़ती नहीं। अगर सर्दी पड़ती भी है तो पहनावे वग़ैरह से पता ही नहीं चलता कि सर्दी पड़ रही है। हां, किसी गाने में नायिका के वक्तव्य से कभी-कभी पता चलता है कि फलां फ़िल्म में सर्दी पड़ी थी, जैसे बरसों पहले उस फ़िल्म में थोड़ी देर के लिए सर्दी पड़ी थी, जिस फ़िल्म में यह गाना था, 'मुझको ठंड लग रही है, मुझसे दूर तू ना जा।' उसके कई साल बाद, एक और फ़िल्म में सर्दी पड़ी थी, जब नायिका ने गाना गाया था, 'सरकाय लेव खटिया जाड़ा लगे।' उसके बाद एक और फ़िल्म में नायिका ने गाना गाया था 'दिल्ली की सर्दी।' उसके बाद अब तक सर्दी नहीं पड़ी और पता नहीं कब पड़ेगी।

गर्मी

गर्मी भी फ़िल्मों में कभी-कभार ही पड़ती है और पड़ती भी है तो रेगिस्तान में पड़ती है। हिन्दुस्तान के हर हिस्से में तीन महीने पड़ने वाली गर्मी, रेगिस्तान में बारहों महीने पड़ती है और बाकी जगहों पर पड़ना भूल जाती है।

दरअसल बात यह है कि फ़िल्म में कहानी नायक-नायिका के इर्द-गिर्द घूमती है। जब कहानी नायक-नायिका के इर्द-गिर्द घूम रही है तो मौसम भी उनकी मर्जी से बदलेंगे। देखो जी, फ़िल्म चलती है, स्टार-कास्ट की वजह से, मौसम की वजह से नहीं चलती और गर्मी के मौसम की वजह से तो बिल्कुल भी नहीं चलती। जब निर्माता बढ़िया स्टार-कास्ट ले रहा है तो साथ में मौसम भी बढ़िया वाला ही लेगा, गर्मी जैसा सड़ियल मौसम क्यों लेगा?

रोमांटिक बरसात, पार्ट-1

फ़िल्मों में बरसात का मौसम एक ही साल में कई-कई बार आता है। कई बार तो एक बरसात के मौसम के बाद सीधा दूसरा बरसात का मौसम आ जाता है, लेकिन पहले बरसात के मौसम का इरादा अलग होता है और दूसरे बरसात के मौसम का इरादा अलग होता है। इस बात को समझने के लिए बरसात के मौसम को तीन भागों में बांट कर समझा जाए तो विवेकानुकूल रहेगा।

रोमांटिक बरसात, पार्ट-1, यह बरसात तब होती है, जब नायिका का पिया परदेस गया हो।

यह बरसात जून, जुलाई या अगस्त में हो, यह जरूरी नहीं। इसके लिए जरूरी है, पिया का परदेस में होना। नायिका का अकेला होना और तब बनती है, एक धांसू गाने की सिचुएशन और आपको सुनने को मिलता है, एक हिट गीत।

रोमांटिक बरसात, पार्ट-2

रोमांटिक बरसात, पार्ट-2 में बरसात बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। यह नायक-नायिका का परिचय करवाती है। इसमें नायिका अपने घर से दूर और नायक के घर के आसपास होती है। अचानक रोमांटिक बरसात, पार्ट-2 शुरू होती है। नायिका भीगती है, अच्छी तरह भीगने के बाद नायिका उस तरफ बढ़ती है, जहां नायक खुद होता है या नायक का घर पास होता है, दोनों की मुलाकात होती है और रोमांटिक बरसात, पार्ट-2 अपना काम पूरा हुआ समझ के बंद हो जाती है। नायक को नायिका से प्यार हो जाता है। नायिका अपना पता दिए बिना चली जाती है। नायक गाना गाता है, 'जिन्दगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात।' या, 'एक लड़की भीगी-भागी सी, सोई रातों में जागी सी।' रोमांटिक बरसात, पार्ट-2 एक बार आके अपना काम कर देती है। अब आगे नायक की तकदीर और नायिका की मर्जी।

रोमांटिक बरसात, पार्ट-3

रोमांटिक बरसात, पार्ट-3 बड़ी शरारती होती है। वे नायक-नायिका, जो एक-दूसरे को जानते तो हैं, लेकिन नजदीक नहीं आए हैं, उनको नजदीक लाती है, एक छाते के नीचे लाती है। जो ऑलरेडी नजदीक होते हैं, उन्हें और नजदीक लाती है। 'डुएट गीत' गाने के लिए मज़बूर करती है, 'आज रपट जाएं तो हमें ना बचइयो।' और जो डुएट गीत गा चुके होते हैं, उनको मुंह काला करने के लिए प्रेरित करती है।

अन्य घोटालों की तरह अब बरसात वाला मामला भी सी.बी.आई. को सौंप देना चाहिए कि बरसात के स्वभाव में वाकई ऐसे समाज विरोधी तत्व हैं या नायक बरसात का बहाना लेकर खुराफ़ात करता है। मुझे तो लगता है, नेताओं के घोटालों की खबरें सुन-सुन के हमारा नायक भी भ्रष्ट हो गया है। घोटाला खुद करता है और आरोप बरसात पर लगा देता है।

बेईमान मौसम

फ़िल्मों में एक अजीब-सा मौसम होता है, बेईमान मौसम। अभी तक एक-आध फ़िल्म में ही आया है या किसी और फ़िल्म में आया भी होगा तो नायक ने नोटिस नहीं किया होगा, लेकिन जिस फ़िल्म में आया, उस फ़िल्म में नायक को पता चलते ही उसने सबसे पहले नायिका को गाकर बताया कि 'आज मौसम बड़ा बेईमान है।'

नायक जिस तरह से मुस्करा के मौसम के बारे में बता रहा था और नायिका जिस तरह से सुनके मुस्करा रही थी, उससे लग रहा था कि मौसम बेईमान होने के बावजूद भी बुरा नहीं था, बल्कि अच्छा था। अब जब अच्छा था तो नायक उसे बेईमान क्यों बता रहा था? ये 'बेईमान

मौसम' इतना 'कॉमन मौसम' तो है नहीं कि हर कोई इसके बारे में जानता हो। अब एक फ़िल्म में उड़नतश्तरी की तरह आया था। नायक ने बता दिया तो मैंने भी आपको बता दिया कि फ़िल्मों में एक बेईमान मौसम भी होता है। आगे जाकर यह बात झूठ निकले तो इसके लिए लेखक जिम्मेदार नहीं है।

पांचवां मौसम

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सर्दी, गर्मी, बरसात और बसंत कुल चार मौसम होते हैं। उसमें एक भूल सुधार करनी है कि मौसम चार नहीं, बल्कि पांच होते हैं और पांचवां मौसम प्यार का होता है। यह बात भी एक फ़िल्म के नायक से पता चली। हां, याद आया, इससे पहले भी एक नायक ने ऐसी ही बात कही थी, 'नी सुल्ताना रे, प्यार का मौसम आया।' हालांकि उस नायक ने यह नहीं कहा कि वह प्यार का मौसम पहला था कि पांचवां था, लेकिन एक बात सिद्ध हो गई कि सर्दी-गर्मी की तरह एक मौसम प्यार का भी होता है, दो-दो नायक झूठ नहीं बोल सकते।

अब आप कहेंगे कि नायक तो बारहों महीने प्यार करता रहता है। प्यार का मौसम साल-भर चलेगा तो बाकी मौसम कहां जाएंगे? तो ऐसा है कि दर्शक जाता है, पचास रुपए का टिकट लेकर फ़िल्म देखने और नायक लेता है उस फ़िल्म में काम करने के बीस करोड़। अब कौन-सा मौसम कब रहेगा, इसमें पचास रुपए वाले की चलेगी कि बीस करोड़ वाले की।

बसंत, पार्ट-1

बरसात के मौसम की तरह बसंत भी फ़िल्म वालों का प्रिय मौसम माना जाता है, इसलिए साल में एक से अधिक बार आता है। बसंत को भी तीन पार्ट में बांटकर समझेंगे तो सहूलियत रहेगी।

बसंत, पार्ट-1, एक छोटी-सी बालिका भागी जा रही है, कैमरा उसे फॉलो कर रहा है। थोड़ी देर में कैमरा सरसों के खेत में पहुंच जाता है जहां सरसों में फूल आ चुके हैं। कैमरा वापस पलटकर उसी बालिका पर आता है, जो अब बालिका नहीं रही, युवती बन गई है। खेतों में बसंत आया, नायिका पर जवानी आई।

यानी बसंत, पार्ट-1 नायिका को जवान बनाने के लिए आता है। इसलिए पूरी फ़िल्म में उपरोक्त बसंत एक बार आता है। वैसे तो हर नायिका बसंत के आने पर ही जवान होती है, लेकिन कोई बसंत के आने से पहले जवान हो जाए तो फिर बसंत, पार्ट-1 उस फ़िल्म में नहीं आता, क्योंकि जिस काम के लिए उसे आना था, वह काम तो हो गया।

बसंत, पार्ट-2

बसंत पार्ट-2, वह बसंत है जो एक बार आ गया तो बस आ गया, फिर वापस नहीं जाता,

एकदम हजरते दाग की तरह, जहां बैठ गए, वहां बैठ गए। नायिका जवान हुई, तब बसंत था। चार महीने बाद जब नायिका गाना गा रही थी, 'बाग में कली खिली बगिया महकी, पर हाय रे अभी इधर भंवरा नहीं आया' तब बसंत था, क्योंकि यह कली, भंवरा, तितली वग़ैरह सब बसंत के लक्षण हैं, फिर चार महीने बाद जब नायिका की नायक से मुलाकात हुई तब बसंत था, क्योंकि नायक ने नायिका पर वे फूल फेंके थे, जो बसंत में ही खिलते हैं।

यानी बसंत पार्ट 2, एक तरह से फ़िल्म वालों के लिए बंधुआ मजदूर की तरह बंधुआ बसंत है। हर वक्त फूल खिला के इस बसंत को रेडी रहना पड़ता है। पता नहीं, नायक कब आदेश दे दे, 'बहारों फूल बरसाओ, मेरा महबूब आया है।'

बसंत, पार्ट-3

बसंत पार्ट-3, वह बसंत है जो एक जेनुइन बसंत होता है। यह बसंत मनोज कुमार की तकरीबन हर फ़िल्म में, पीली पगड़ी, पीली चुनरिया और पीली-पीली सरसों के संग आता रहा है।

यह बसंत, सार्वजनिक बसंत जैसा लगता है। किसी नायक का गुलाम नहीं लगता। पूरे गांव और माहौल पर एक साथ आता है।

वैसे एक तरह से ऐसा बसंत ही असली बसंत का आभास देता है, भले ही साल में एक ही बार आए। यह क्या कि नायक ने आलाप लिया, कोयल कुहकी और बसंत आ गया! नायिका ने अंगड़ाई ली, तितली उड़ी और बसंत आ गया!

अंग भेद

फ़िल्मी गीतों में नायक नायिका की तारीफ करता है। अगर गौर से सुनें तो आपको पता चलेगा, वह नायिका की नहीं, उसके बालों की तारीफ करता है, गालों की तारीफ करता है, उसकी आँखों की तारीफ करता है, वग़ैरह-वग़ैरह। मतलब यह कि नायिका के अंगों की तारीफ किए बिना उसकी तारीफ करना संभव नहीं। कुछ अंगों की तारीफ बार-बार की गई है तो कुछ अंग बिल्कुल छूट गए। फ़िल्मों के गीतों और संवादों में वर्णित पात्रों के अंगों का लेखा-जोखा प्रस्तुत है-

नाक

चेहरे की सुन्दरता बढ़ाने या घटाने में सबसे अहम होती है नाक। वैसे फ़िल्मों में सबके एक अदद नाक लगी दिखती है, मगर गीतों और संवादों के रिकॉर्ड को देखें तो उसमें नायक या नायिका के कहीं नाक होने का जिक्र नहीं है। हां, कुछ फ़िल्मों में किसी खानदान के एक नाक जरूर होती है, जो उस खानदान के जवान लड़के या लड़की द्वारा प्यार करने पर कट जाती है।

नायिका की तारीफ में नायक ने किस-किस अंग की तारीफ नहीं की? तिल तक को नहीं छोड़ा, मगर किसी गीत में नाक का जिक्र नहीं किया। इसका मतलब है कि उसका सौन्दर्य बोध अधूरा है या फिर वह नाक को काबिले तारीफ नहीं समझता। गीतकार नोट करें।

जान

फ़िल्मों में कोई जान हथेली पर लेकर चलता है, कोई किसी की राह में जान बिछाए बैठा है, किसी की जान जा रही है, किसी की जान आ रही है, कोई किसी की जान लेने के लिए पीछे पड़ा है, कोई किसी पर जान देने के लिए पीछे पड़ा है। फ़िल्म के शीर्षक से लेकर फ़िल्म के अन्त तक निर्देशक हर फ्रेम में जान बिछा देता है, मगर फ़िल्म की कहानी में जान डालना भूल जाता है।

इसलिए जब दर्शक थिएटर से लौटता है तो साफ मुकर जाता है कि फ़िल्म में जान है। दरअसल फ़िल्मों में सर्वाधिक प्रयोग में लाया जाने वाला शब्द 'जान' है, सबसे बासी संबोधन जान है, इसलिए फ़िल्मों में 'जान' बहुत सस्ती होती जा रही है, 'जानेमन'!

गाल

नायक जब नायिका की तारीफ में गाना गाता है तो एक लाइन उसके गालों के बारे में जरूर गाता है, जैसे नमक के बिना खाना अधूरा, वैसे ही गालों की चर्चा के बिना गाना अधूरा। यूं होने को तो गाल नायक के भी होते हैं, लेकिन नायिका के गालों की बात ही कुछ और है, कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली।

जैसे सावन के अंधे को बस हरा-ही-हरा नजर आता है, वैसे ही प्रेम के अंधे हमारे नायक को बस गोरा-ही-गोरा नजर आता है, क्योंकि ऐसी मान्यता व परंपरा है कि नायिका के गालों का रंग

गोरा ही होता है। नायिका अगर सांवली भी होगी तो भी उसके गाल गोरे ही होंगे।

आँखें

फ़िल्मों में हर दूसरा गाना आँखों पर गाया जा रहा है। फ़िल्मों में आँख देखने के काम भी आती है और मारने के भी काम आती है। वह आँख अगर नायिका की हो तो वह तीर भी चलाती है। उस तीर से नायक घायल होता है। कुछ दिनों पहले एक नायिका ने अँखियों से गोली भी मारी थी। फ़िल्मों में नायक और खलनायक ही नहीं लड़ते, आँखें भी लड़ती हैं। आँखें जब लड़ती हैं तो नींद उड़ जाती है, तब आँखें, आँखें नहीं रहतीं, नैना हो जाती हैं और नैना सावन-भादों हो जाते हैं।

नायिका को नायक की आँखों से कभी खतरा नहीं रहा, जबकि नायक को नायिका की आँखों से हमेशा खतरा रहा है। अगर वे झील-सी गहरी हुईं तो नायक उनमें डूब जाता है, काली-काली नशीली हुईं तो नायक बावला हो जाता है, दीवाना हो जाता है। हालांकि पागलखाने में भर्ती नहीं कराया जाता।

जुल्फ

जुल्फ, लट, चोटी और बाल ये सब एक ही बला के नाम हैं। बाल कब लट, चोटी या जुल्फ बन जाते हैं, यह नायक के मूड पर निर्भर करता है। पहली-पहली मुलाकात है तो नायक, नायिका के बालों को लट कहेगा और कहेगा, 'तुम्हारी लट में मेरा दिल उलझ कर रह गया है।' नायक का एक काम पूरा हो गया।

फिर जैसे-जैसे प्यार बढ़ता है, नायक की ग़रज़ बढ़ती है, वैसे-वैसे बालों का आकार बढ़ता जाता है। तब लट, जुल्फ बन जाती है, जुल्फ घटा बन जाती है। नायक घटा से प्यार की बारिश की उम्मीद करने लगता है।

कभी-कभी तो नायक के बजाय नायिका खुद अपने बालों की चर्चा करने लगती है, 'काले-काले बाल मेरे, मैं क्या करूं,' इसमें करने वाली कौन-सी बात है सुन्दरी? बाल तो हर लड़की के काले ही होते हैं। तेरे बाल काले हैं, इसमें नई कौन-सी बात है। इसलिए कहते हैं कि अपनी तारीफ खुद नहीं करनी चाहिए, गड़बड़ हो सकती है। तू तो बाल बिखरा, जुल्फ उड़ा, तारीफ का काम नायक पर छोड़ दे।

दिल

शरीर विज्ञान के हिसाब से दिल हर एक के लिए जरूरी अंग है, लेकिन फ़िल्म विज्ञान के हिसाब से यह हर एक के लिए जरूरी नहीं है। असली जिंदगी में दिल हर एक इंसान के पास होता है। फ़िल्मों में यह सिर्फ नायक और नायिका के पास होता है, ताकि वे इसका आदान-प्रदान कर सकें। कभी-कभार यह दिल नायक या नायिका के बूढ़े बाप के पास भी पाया जाता है,

जिसका पता सबको दिल का दौरा पड़ने पर ही चलता है।

फ़िल्मी दिल बंद नहीं होता, उसके टुकड़े होते हैं। कभी-कभार एक दिल के हजार टुकड़े तक हुए हैं। इससे एक तो यह पता चलता है कि फ़िल्मी दिल काफी बड़ा होता है और दूसरा दिल के टुकड़े यहां-वहां बिखरने के बाद भी आदमी बिना दिल के जी सकता है।

कभी कोई नायक दिल के हाथों मजबूर हुआ तो पता चला, दिल के हाथ भी होते हैं। असली दिल तो सिर्फ खून साफ करता है। फ़िल्मी दिल फ़िल्मी नायक की तरह कई काम करता है–बोलता है, याद करता है, तड़पता है, उड़ता है, गाना गाता है, वग़ैरह-वग़ैरह।

गोरा रंग

'गोरे रंग पे ना इतना गुमान कर, गोरा रंग दो दिन में ढल जाएगा', जब मैंने पहली बार यह गाना रेडियो पर सुना तो मुझे लगा कि कोई बाबा जी किसी गोरी को आध्यात्मिक शिक्षा दे रहे हैं कि गोरे बदन पर घमंड करना कोई अच्छी बात नहीं है। अगले दिन फ़िल्म देखी तो पता चला कि नायिका ने नायक को कंधे पर हाथ नहीं धरने दिया, इसलिए जल-भुनके उसके गोरे रंग को कोस रहा है।

सच में गोरा रंग होता ही ऐसा कमाल का है, जो जोगियों को संसारी बना देता है और संसारियों को जोगी बना देता है।

दुनिया में रंग-भेद मिटाने के लिए कितने आंदोलन हुए, कितने नारे लगे, लेकिन नायिका के गोरे रंग की तरफ किसी ने अंगुली तक नहीं उठाई, जैसे पुलिस वालों की वर्दी का रंग स्थायी रूप से खाकी होता है वैसे ही हमारी फ़िल्मी गोरियों का रंग स्थायी रूप से गोरा होता है।

हाथ

फ़िल्मों में प्यार के संबंध में हाथों का जिक्र करें तो बस इतना-सा फसाना है कि नायक, नायिका की तरफ 'हाथ बढ़ाता है।' नायिका उसके 'हाथ में हाथ' दे देती है। जब नायक उसके बाप से उसका 'हाथ मांगने' जाता है तो नायिका का बाप हाथ झटक देता है। नायक 'हाथ मलकर' रह जाता है।

नायिका का बाप नायिका के 'हाथ पीले' करने के लिए खलनायक को चुनता है, उधर खलनायक के 'हाथ किसी के खून में रंगे हैं।' यह राज, नायक के 'हाथ लग जाता' है। वह यह राज जब नायिका के बाप को बताता है तो उसके 'हाथों के तोते' उड़ जाते हैं। वह खलनायक के 'हाथ की कठपुतली' बनने से साफ इनकार कर देता है। खलनायक उसको और उसके पूरे परिवार को अड्डे पर ले जाकर सबके 'हाथ बांध' देता है। नायक आकर खलनायक से 'दो-दो हाथ' करता है। वह नायक के 'हाथों मारा' जाता है। नायक को 'नायिका का हाथ' मिल जाता है, हाथ से कान पकड़ा, मगर सीधा नहीं पकड़ा, हाथ घुमाकर पकड़ा।

लब

लब यानी होंठ। आँखों, जुल्फों, गालों और कमर की तरह लबों के मामले में भी नायक नायिका से पिछड़ा हुआ है, मीलों पीछे है। होने को लब नायक के भी हैं, लेकिन नहीं के बराबर, न किसी ने तारीफ की, न किसी ने अंडर लाइन किया। जबकि फ़िल्मी गीतों में से नायिका के लब निकाल लो तो आधे गीत भरभरा के गिर पड़ेंगे।

फ़िल्मों में लबों ने बड़ा उतार-चढ़ाव देखा, शरीफ गीतकार के साथ रहे तो गुलाब कहलाए, शायर के हत्थे चढ़े तो शराब या जाम हो गए, सस्ते स्क्रीन प्ले लेखक की सोहबत में रहे तो अंगारे कहलाए, पिछले दिनों एक्शन में आए तो चुम्मा बन गए और यू.पी., बिहार के बराबर कॉस्टली हो गए।

कमर

हमारे पुराने नायक को यह गलतफहमी थी कि नायिका की कमर नाजुक होती है, इसलिए वह अकसर गाने में हिदायत देता रहता था कि नायिका धीरे चले, उसकी कमर कहीं लचक न जाए। फिर नायिका ने भी नाच-ठुमके के दौरान नायक की इस गलतफहमी को बनाए रखा कि उसकी कमर नाजुक है।

इधर हमारी आज की नायिकाओं ने नाच में ठुमकों की जगह जब झटके दिखाए तो पता चला, पुरुष कितना स्वार्थी और झूठा है। उसने हमेशा औरत को कमजोर समझा, उसकी कमर को कमजोर समझा। नायक की नजर में नायिका की कमर, कमजोर हो, चाहे नाजुक हो, फ़िल्म इंडस्ट्री का पचास प्रतिशत वजन इसी कमर पर टिका हुआ है। एक बढ़िया-सा नायिका का ठुमका कभी-कभी तो पूरी फ़िल्म की नैया पार लगा देता है। माधुरी दीक्षित के एक ठुमके ने तो एम.एफ.हुसैन साहब को सौ से ज्यादा बार तक एक थिएटर तक दौड़ा दिया था। इसलिए नायक से निवेदन है कि वह नायिकाओं की कमर को कमजोर समझने की नादानी न करे।

लोकेशन भेद

लोकेशन!....जहां फ़िल्म की शूटिंग होती है, वहां एक इनडोर लोकेशन और दूसरी आउटडोर लोकेशन होती है। इनडोर यानी दरवाजे के अंदर जैसे–कमरा, बाथरूम, अदालत, अस्पताल वग़ैरह। आउटडोर यानी पुल, नदी, झरना, बगीचा वग़ैरह। कुछ जानी-पहचानी, सैकड़ों बार देखी लोकेशन निम्नलिखित हैं-

पुल-झरना आदि

असल में जो लोकेशन जिस काम के लिए होती है, फ़िल्म में जरूरी नहीं कि वह लोकेशन उसी काम आए। हमारी फ़िल्मों में या तो लोकेशन का कोई उपयोग ही नहीं हुआ है या हुआ है तो गलत उपयोग हुआ है, जैसे पुल। सरकार ने पुल मोटरों के आने-जाने के लिए बनाए थे, मगर फ़िल्मों ने इनका क्या उपयोग किया? या तो नायिका ने इस पर से कूदकर आत्महत्या करने की कोशिश की या फिर खलनायक ने किसी की लाश को पुल पर से नदी में फेंका। फलस्वरूप सरकार ने पुल बनाने कम कर दिए। आज जहां एक-एक नदी पर कई-कई पुल होने चाहिए, वहां कई-कई नदियों पर एक भी पुल नहीं है, जैसे झरना, जिस झरने में, हम सैकड़ों गरीब आदिवासी महिलाओं को नहलाकर उनका उद्धार कर सकते थे, वहीं फ़िल्मों ने सिर्फ एक नायिका को नहलाकर झरने की उपयोगिता सीमित कर दी, झरना एक तरह से नायिका की पर्सनल प्रॉपर्टी बनकर रह गया।

पुरानी हवेली या पुराना किला

पुरानी हवेली, डरावनी फ़िल्मों की एक अनिवार्य लोकेशन है। जो हमें कई फ़िल्मों में डराती आ रही है। पुरानी हवेली में एक चालू घड़ी, एक डरावना चौकीदार और एक काली बिल्ली होती है। ये सब भी अपनी हैसियत के मुताबिक हमें डराने में अपना योगदान देते हैं। इस पर भी कोई नहीं डरे तो बताया जाता है, यहां भूत भी रहते हैं, तब भी कोई नहीं डरे तो उसकी मर्जी।

पुरानी हवेली में खलनायक का लाखों रुपए का कारोबार चलता है। उधर लाखों की फिरौती वसूल करने के लिए पुराना किला एक आदर्श जगह मानी जाती है।

पुरानी हवेली और पुराना किला जहां भी हैं, हमारे फ़िल्म वालों के हाथ में सुरक्षित हैं। वरना किसी दिन टूरिज्म डिपार्टमेन्ट के हाथ पड़ गए तो चार-चार आने देकर कोई भी टटपूंजिया टूरिस्ट अन्दर घुस जाएगा, पुरानी हवेली और पुराने किले का सारा सस्पेन्स खत्म हो जाएगा, लाखों का कारोबार बन्द होगा, वो अलग से!

हरा-भरा गांव

फ़िल्मों में एक लोकेशन होती है हरा-भरा गांव, जो प्यारा होता है। उसमें एक गोरी होती है। गांव में हरे-भरे खेत होते हैं। जिसमें हरी-भरी गोरी विचरण करती है। एक नदी होती है या फिर

एक झील होती है। 'नदी और झील दोनों नहीं मिल सकते-कोई एक चीज ले लो।' गांव के लोगों में, बड़ा सब्र होता है। वे एक चीज नदी या झील लेकर सब्र कर लेते हैं।

फ़िल्म में बाढ़ या अकाल नहीं दिखाना हो तो ये गांव बारहों महीने हरा-भरा रह सकता है, इसमें मौसम को कोई एतराज नहीं। इसके बावजूद गांव के लोग गरीब होते हैं, जिनका एक मुखिया होता है, जो बूढ़ा होता है।

'गोरी तेरा गांव बड़ा प्यारा, मैं तो गया मारा, आके यहां रे।' सावन के अंधे को सब हरा ही दिखाई देता है और प्रेम के अंधे को पूरा गांव प्यारा लगता है।

फ़िल्मों के ये हरे-भरे गांव प्रेमियों और डाकुओं के एकदम अनुकूल होते हैं और हां, प्रत्येक गांव में एक पीपल का पेड़ भी होता है, जिसके नीचे बैठकर प्रेमी प्रेम में साथ-साथ जीने-मरने की कसमें खाते हैं।

सुरंग

एक लोकेशन होती है अन्डर ग्राउंड सुरंग, जिसमें आधुनिक हथियारों से लैस खलनायक के लोग नायक का पीछा करते हैं, दिखा दो यह सुरंग उन लोगों को, जो कहते हैं कि हमारा देश साइंस में पिछड़ा हुआ है। बता दो उन्हें कि हमने भी साइंस में तरक्की की है, भले ही अंडर ग्राउंड ही सही। आज अन्डर ग्राउंड में तरक्की की है, कल ओवर ग्राउंड में भी कर लेंगे। हमारा आदमी भी आधुनिक हुआ है, भले ही वह खलनायक ही सही, पर है तो हमारे देश का।

सुरंग में बहता हुआ साफ-सुथरा पानी, आगे एक दाएं मोड़, दूसरा बाएं मोड़। दाईं सुरंग एक भव्य बंगले में खुलती है तो बाईं सुरंग पड़ोसी देश की सीमा पर खुलती है। पैसा खर्च होता है, ऐसी सुरंग बनाने में, यूं ही मुफ्त में नहीं बन जाती इतनी बड़ी सुरंगें, जो हमारे देश को गरीब कहते हैं। वे कुतुबमीनार और ताजमहल वग़ैरह की ऊपर की समृद्धि देखकर चले जाते हैं। लगता है, उन्होंने हमारे अन्दर की समृद्धि देखी नहीं है। पहले वह सुरंग देखो, फिर हमसे बात करो, हां।

कॉलेज

फ़िल्मों में एक लोकेशन होती है, कॉलेज। कॉलेज में क्लासेज खाली और कंपाउंड भरा रहता है। कॉलेज पढ़ने के प्रतिकूल होता है, प्रेम और मारपीट के एकदम अनुकूल होता है। खलनायक कॉलेज के प्रिंसीपल को बात-बात पर दुत्कारता रहता है, क्योंकि वह कॉलेज खलनायक के बाप के चंदे से बना होता है।

विद्यार्थियों की पहली हॉबी हड़ताल और दूसरी हॉबी मारपीट होती है। इससे टाइम मिल जाए तो थोड़ा पढ़ भी लेते हैं। विद्यार्थियों को मारपीट के खातिर दूर जाने की जरूरत नहीं, मूर्ख विद्यार्थी अपने ही कॉलेज में यह शौक पूरा कर लेते हैं और समझदार विद्यार्थी दूसरे (प्रतिद्वंद्वी) कॉलेज में चले जाते हैं और दो-दो हाथ कर आते हैं।

कॉलेज में फ़िल्म का नायक हमेशा प्रथम श्रेणी में पास होता है। कॉमेडियन हमेशा फेल होता

है। खलनायक हमेशा नकल करते हुए पकड़ा जाता है और नायिका, उसको तो बस एक ही काम करना होता है प्रेम, पढ़ाई के लिए फुर्सत कहां।

डैन या अड्डा

डैन या अड्डा यूं तो एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं, लेकिन फिर भी दोनों में थोड़ा फर्क होता है, दोनों की लोकेशन सुनसान जगह पर होती है, दोनों की संस्कृतियों में समानता होने के बावजूद दोनों के स्टैंडर्ड में बहुत फर्क होता है, जैसे वही जगह मोगेम्बो के पास हो तो डैन कहलाएगी और गब्बर सिंह के पास हो तो अड्डा कहलाएगी। हालांकि दोनों जगहें अपहरण और मारामारी के काम आती हैं, फिर भी दोनों के काम की शैली भिन्न होती है। डैन में रहने वाले स्मगलिंग करते हैं और अड्डे में रहने वाले डाका डालते हैं। डैन में रहने वाले टकले होते हैं और अड्डे में रहने वाले दाढ़ी वाले होते हैं, वैसे नाच-गाने के दोनों ही उच्च दर्जे के शौकीन होते हैं।

मेला

मेला फ़िल्मों में मिलने और बिछड़ने के लिए आदर्श लोकेशन मानी जाती है या यूं कह सकते हैं कि मेला लगता ही इसलिए है कि इसमें दो अनजान दिल मिल सकें और दो सगे भाई बिछड़ सकें। मेले में एक जलेबी की दुकान, एक बड़ा झूला, भीड़ और कुछ चूड़ियों की दुकानें जरूर होती हैं।

प्रेम कहानी होगी तो पात्रों में नायक, नायिका, उसकी सहेलियां, तथा एक कॉमेडियन होगा। बिछड़ने की कहानी होगी तो उसमें एक बाप और दो छोटे बच्चे होंगे। बेटों के गले में दो ताबीज होंगे अथवा दोनों के बाजुओं पर सूरज के दो निशान होंगे। सूरज के निशान नहीं होंगे तो दोनों की पीठ पर दो काले निशान होंगे, दोनों की पीठ पर दो काले निशान नहीं होंगे, तो...शर्त लगाई जा सकती है कि उस मेले में वो बिछड़ेंगे नहीं।

मंदिर

मंदिर की लोकेशन ने भी कई फ़िल्मों में, कई नाटकीय दृश्य दिए हैं। एक सीन देखिए, नायिका गाना गाकर देवी मां के सामने अपना दुखड़ा रोती है। वह रोए जा रही है, दर्शक स्तब्ध हैं। मूर्ति, त्रिशूल और देवी मां के हाथों को ठक-ठक-ठक करके कई क्लोज शॉट जाते हैं। नायिका की विनती पूरी होती है। देवी मां के हाथ से नायिका की झोली में एक फूल गिरता है। हॉल में तालियां बजती हैं, देवी मां ने प्रार्थना सुन ली।

फ़िल्मों में ऐसा नहीं है कि भगवान ही अपने भक्त को संकट में डालता है, कभी भक्त भी भगवान को संकट में डाल सकता है। उसके अस्तित्व को ही चुनौती दे डालता है। एक बानगी -

''भगवान, मैं आज तक तेरे मंदिर में नहीं आया। आज तक तुझसे कुछ नहीं मांगा।'' (''तो आज क्यों तकलीफ उठाई?'')

''मेरी मां सख्त बीमार है। उसे अच्छा कर दे भगवान।'' (''कोशिश करता हूं।'')

''अगर उसे कुछ हो गया तो मैं समझूंगा, तू भगवान नहीं है। आज के बाद कोई तेरा नाम नहीं लेगा।'' ("अरे! मेरा इम्तहान ले रहा है। मुझे धमकी दे रहा है।'')

सही कहा है, नंगों से भगवान भी डरते हैं, असल में हो, चाहे फ़िल्म में।

अस्पताल

अस्पताल कहते ही इस लोकेशन के कई सीन आंखों के सामने घूम जाते हैं, डिलीवरी रूम के बाहर परेशानी में टहलता बाप, दरवाजे पर लाल बत्ती, अन्दर से एक बच्चे के रोने की आवाज है, थोड़ी देर बाद एक डॉक्टर बाहर आकर मुंह पर से हरी पट्टी उतारता है, "मुबारक हो, लड़का हुआ है।'' सुनकर बाप खुशी से झूम उठता है।

याद आता है, खलनायक द्वारा घायल मरीज को ऑक्सीजन की नली निकालकर मारने का सीन। याद आता है, 'अमर, अकबर और एन्थनी का एक अनजान बुढ़िया को खून देने का सीन। वह बुढ़िया बाद में उनकी मां निकलती है। याद आता है, एक भाई का अपनी बहन के ऑपरेशन के लिए चोरी करने का सीन।

अस्पताल एक कारुणिक लोकेशन है। हर लोकेशन का अपना मूड होता है। आप बगीचे की लोकेशन से दर्शक को डरा नहीं सकते और सुनसान हवेली में रोमांस नहीं दिखा सकते। जिस मूड की लोकेशन हो, उस लोकेशन पर उसी मूड का सीन फ़िल्माया जाए तो वह लोकेशन सहयोग करती-सी मालूम पड़ती है। अस्पताल वह लोकेशन है जहां से एक कैरेक्टर या तो इस दुनिया में एन्ट्री लेता है या इस दुनिया से एग्जिट लेता है, इसलिए निर्देशक को बहुत सोच-समझकर इस लोकेशन का उपयोग करना चाहिए, वरना उसे हमेशा-हमेशा के लिए फ़िल्म इंडस्ट्री से एग्जिट लेनी पड़ सकती है।

बगीचा

बगीचा दो तरह का होता है, असली और फ़िल्मी। असली बगीचे में बूढ़े-बुजुर्ग टहलते हैं और फ़िल्मी बगीचे में जवान जोड़े मिलते हैं असली बगीचे में प्रेमी अंधेरा होने के बाद आते हैं, जबकि फ़िल्मी बगीचे में सूरज की रोशनी में मिलते हैं।

बगीचे में प्रेम करना मुगल संस्कृति की देन है। अनारकली से प्यार होते ही सलीम उसे सीधा बगीचे में लेकर आता है। उसके बाद प्रेमियों का बगीचे में मिलना एक परंपरा-सी हो गई। लड़की, लड़के को देख कर मुस्कराई नहीं कि सीधा निमंत्रण मिलता है, चल बगीचे में एक युगल गीत हो जाए, बंद पड़ा फव्वारा फूट पड़ता है, बादल, हवा, फूल, भंवरा, पक्षी सब आलस्य छोड़कर सक्रिय हो जाते हैं।

प्रेमी-प्रेमिका सेन्सर बोर्ड द्वारा खींची गई लक्ष्मण रेखा पर आकर ठिठक जाते हैं। तब प्रेमी-प्रेमिका द्वारा छोड़े गए अधूरे काम फूल, पक्षी और भंवरा करते हैं, दो फूल हवा में झूलकर गले

मिलते हैं, दो चिड़िया चोंच-से-चोंच मिलाती हैं, एक भंवरा फूल में कैद हो जाता है, धत् नॉटी भंवरा!

शीर्षक भेद

फ़िल्म के नाम को शीर्षक कहते हैं, जैसे आदमी के लिए नाम जरूरी होता है वैसे ही फ़िल्म के लिए शीर्षक जरूरी होता है। आदमी पहले पैदा होता है, फिर उसका नाम रखा जाता है। जबकि फ़िल्म बाद में बनती है और पहले नाम रखा जाता है।

बख्तावर सिंह जैसा शीर्षक

जिस प्रकार एक बढ़िया नाम वाला आदमी घटिया निकल सकता है, ठीक वैसे ही बढ़िया नाम वाली फ़िल्म भी घटिया निकल सकती हैं, यानी बख्तावर सिंह निकल सकती हैं। हुआ यूं कि एक बार मेरे गांव में कोई बख्तावर सिंह जी आने वाले थे। उनका नाम सुनकर मैंने एक भव्य और दिव्य आदमी की कल्पना कर ली। मैं सारे काम छोड़कर बख्तावर सिंह जी का इन्तजार करने लगा, जैसे अमिताभ बच्चन की वापसी पर दर्शकों ने 'मृत्युदाता' का इन्तजार किया था और जब बख्तावर सिंह जी आए तो मैंने सिर पीट लिया। साढ़े चार फीट के बख्तावर सिंह जी और वह भी लंगड़े। निर्माता अकसर अपनी सारी ऊर्जा और प्रतिभा फ़िल्म का नाम सोचने में ही लगा देता है और फिर फ़िल्म की सफलता के प्रति निश्चिंत हो जाता है, ऐसी फ़िल्में अकसर 'बख्तावर सिंह' निकल जाती है।

प्रेम कहानी का संकेत देने वाले शीर्षक

कुछ शीर्षकों से फ़िल्म की थीम मालूम पड़ जाती है कि यह प्रेम कहानी है या पारिवारिक फ़िल्म है। वैसे ही कुछ शीर्षक प्रेम कहानियों के संकेत देने वाले होते हैं, जैसे 'प्यार ही प्यार', 'दिल', 'मुहब्बत', 'इश्क इश्क इश्क', 'प्यार किए जा', 'मैंने प्यार किया' वगैरह-वगैरह। इस तरह की फ़िल्मों का एक बहुत बड़ा दर्शक वर्ग है, लड़कियों द्वारा ठुकराया और उपेक्षित प्रेमियों का वर्ग। यह वर्ग अपनी उपेक्षा का कारण तलाशने के लिए ऐसी फ़िल्में देखता-ही-देखता है। प्रेमियों का यही वर्ग जब अंग्रेजीदां हो जाता है तो 'लव इन शिमला' और 'लव इन टोक्यो' देखने जाता है। प्यार चाहे शिमला में हो, चाहे टोक्यो में, एक जैसा ही होता है, गड्ढे में चाहे रोहतक में गिरो, चाहे रोम में गिरो, चोट बराबर की लगती है।

प्रश्नवाचक शीर्षक

कुछ फ़िल्मों के शीर्षक प्रश्नवाचक होते हैं। 'वो कौन थी?' 'अब क्या होगा?' 'कातिल कौन?' वग़ैरह-वग़ैरह। ऐसे शीर्षक दर्शकों में जिज्ञासा जगाते हैं। दर्शक सोचने पर मजबूर हो जाता है। वह चार जनों से पूछता है, 'क्यों भाई, यह 'अल्बर्ट पिन्टो को गुस्सा क्यों आता है'?'

ऐसी फ़िल्मों को दर्शक यूं चुटकियों में फ़िल्म देखने के लिए तैयार हो जाते हैं। एक आदमी झोला लेकर बाजार आता है। रास्ते में एक फ़िल्म का पोस्टर उसके ज्ञान को चुनौती देता है, 'वो कौन थी?' वह आदमी पूरी ईमानदारी से सोचता है, 'वो कौन थी?' वह सब्जी वाली की तरफ

झोला बढ़ाकर कहता है, ''आधा किलो 'वो कौन थी' देना।'' उसे कुछ नहीं सूझता, 'वो कौन थी?' अंत में थकहार कर वह थिएटर की तरफ बढ़ लेता है। यह जानने के लिए कि 'वो कौन थी?'

खानदानी शीर्षक

किसी जमाने में वी. शांताराम का अपना दर्शक वर्ग था। जैमिनी स्टूडियो का अपना दर्शक वर्ग था। बिमल राय, ऋषिकेश मुखर्जी, राजकपूर का अपना दर्शक वर्ग था। इन सबकी मार्केट में एक साख थी। फ़िल्म के शीर्षक के ऊपर इन निर्माताओं के नाम लिखे होते थे। इनको फ़िल्म के शीर्षक के लिए माथा-पच्ची नहीं करनी पड़ती थी, क्योंकि इनकी फ़िल्में शीर्षक से नहीं 'बैनर' से चलती थीं, जैसे टाटा, बिड़ला या गोदरेज के नाम से उनका प्रोडक्ट चलता है।

वैसे तो इन खानदानी निर्माताओं की फ़िल्मों के शीर्षक भी खानदान के अनुरूप ही होते थे, फिर भी अनुरूप नहीं होते तो भी काम चल जाता था, क्योंकि जब खानदान ऊंचा हो तो नाम कुछ भी चलता है, जैसे किसी करोड़पति के बेटे का नाम फकीरचंद हो तो भी फकीरचंद सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है।

चरित्रों के नाम पर शीर्षक

फ़िल्मों के नाम रखने का एक सीधा-सा तरीका यह है कि फ़िल्म का शीर्षक, फ़िल्मों के चरित्रों पर रख लो, जैसे 'देवदास', 'हीर-रांझा', 'अनारकली', 'गंगा-जमना', 'अमर अकबर एंथनी' वगैरह-वगैरह।

लेकिन ऐसे प्रपोजल में तीन में से दो का पॉपुलर होना जरूरी है, जैसे आज कोई देवदास बनाना चाहे तो देवदास तो पॉपुलर है ही, साथ ही देवदास बनने वाले कलाकार और देवदास बनाने वाले निर्माता में से कम-से-कम एक का पॉपुलर होना भी जरूरी है, तभी फ़िल्म बनेगी और चलेगी। अगर 'देवदास' फ़िल्म को कोई चरणदास बनाए और उसमें देवदास के लिए प्रेमदास को ले ले तो चरणदास और प्रेमदास तो डूबेंगे ही, साथ में 'देवदास' को भी ले डूबेंगे।

दर्शकों की मांग के अनुसार शीर्षक

किसी जमाने में दिलीप कुमार साहब, राजकपूर साहब और देवानंद साहब में आपस में जबरदस्त प्रतियोगिता चलती थी और उनसे भी ज्यादा प्रतियोगिता चलती थी, उनके दर्शकों के बीच में तो दर्शकों की मांग के हिसाब से भी फ़िल्मों के शीर्षक रखे जाते हैं। इस बारे में एक किस्सा है–

राज साहब ने 'मेरा नाम जोकर' का अनाउंसमेन्ट किया तो दिलीप साहब और देव साहब के खेमों में हलचल फैली। थोड़े दिनों बाद देव साहब के खेमे से 'जानी मेरा नाम' की चुनौती दागी गई। कुछ दिनों बाद दिलीप साहब के खेमे से ऐसे ही नाम वाली फ़िल्म एनाउंस हुई, 'गोपी मेरा

नाम', हालांकि जब फ़िल्म रिलीज हुई, तब उसका नाम छोटा हो गया था, 'गोपी'। तो दर्शकों के मनमाफिक भी नाम रखने पड़ते हैं, क्योंकि दर्शक ही तो फ़िल्म वालों के असल माई-बाप होते हैं।

कलाकार के माफिक शीर्षक

कभी-कभी शीर्षक फ़िल्म के कलाकार की इमेज और उसकी छवि के माफिक रखे जाते हैं या यूं कहें कि रखने पड़ते हैं, जैसे शम्मी कपूर की फ़िल्म का शीर्षक 'जंगली' हो तो चल सकता है, लेकिन 'देवदास' हो तो नहीं चल सकता। 'देवदास' में दिलीप कुमार ही फबते हैं, शम्मी कपूर नहीं, वैसे ही दिलीप कुमार की फ़िल्म का नाम जंगली नहीं रखा जा सकता।

फ़िल्म का नाम हो 'रुस्तमे-हिन्द' और उसमें नायक हो आमिर खान तो सुनके कैसा लगेगा? या फ़िल्म का नाम हो 'दिल' और उसमें नायक लिए जाएं दारा सिंह तो सुनके कैसा लगेगा? हालांकि दारा जी के सीने में भी दिल है, लेकिन उनकी इमेज में कहीं दिल शामिल नहीं है, सिर्फ फौलादी जिस्म है। फ़िल्म का शीर्षक रखते समय उपरोक्त बात का ध्यान रखना अति आवश्यक है, वरना वीर रस की फ़िल्म में हास्य रस पैदा हो सकता है।

ठग शीर्षक

जैसे दुनिया में ठग होते हैं, वैसे ही फ़िल्मों के नाम भी ठग शीर्षक होते हैं। जिस तरह ठग ठगते हैं, वैसे ही ठग शीर्षक दर्शकों को ठगते हैं। अकसर कच्ची उम्र के दर्शक इनके शिकार होते हैं। 'प्यासी जवानी', 'जवानी की भूल', 'जवानी की प्यास' वग़ैरह-वग़ैरह ठग किस्म के शीर्षक की श्रेणी में आते हैं।

दरअसल ऐसी फ़िल्मों में न जवानी होती है, न प्यास होती है, न भूल होती है, होता है तो बस शीर्षक का जाल होता है, जिसमें नया दर्शक फंस कर ठगा जाता है। इसलिए ठगों से ज्यादा ठग नाम वाले शीर्षकों से सावधान रहना चाहिए।

बदले के शीर्षक

जब बदले की फ़िल्मों का युग शुरू हुआ तो बदले की फ़िल्में बनाने की होड़ मच गई। कोई बाप का बदला ले रहा है, तो कोई भाई का बदला ले रहा है, तो कोई दोस्त का बदला ले रहा है और बदले की फ़िल्मों के ऐसे-ऐसे शीर्षक रखे जाने लगे, जिन्हें पढ़कर रोमांच कम और कोफ्त ज्यादा होने लगी, 'जिंदा जला दूंगा', 'जला के रख दूंगा', 'जीने नहीं दूंगा', 'बदले की आग', 'आग का गोला' और पता नहीं क्या-क्या।

फ़िल्में धड़ाधड़ फ्लॉप होने लगीं। दर्शक कहता है, 'हमको बदला नहीं, कहानी मांगता है।' और कहानी में निर्माता का विश्वास रहा नहीं। वह तो अच्छा हुआ कि 'हम आपके हैं कौन' फ़िल्म रिलीज हुई और फ़िल्म वालों को पता चला कि हम दर्शकों को कितना पीछे छोड़ आए हैं।

खैर, 'जंजीर' का भूला 'मृत्युदाता' पर घर लौट आए तो उसे भूला नहीं कहते।

सीधे-सरल कपटरहित शीर्षक

कुछ शीर्षक सीधे-सरल और कपट रहित होते हैं। कोई लाग-लपेट नहीं, सीधी मुद्दे की बात, जैसे 'जय हनुमान' हनुमान जी के बारे में फ़िल्म है। शीर्षक से साफ जाहिर है, जिसको हनुमान जी में आस्था होगी वह देखेगा, जैसे -'महाराणा प्रताप' या 'जय चित्तौड़'। जो बात शीर्षक में है, वही बात फ़िल्म में मिलेगी। जिनकी भुजाएं फड़कती रहती हैं, वे पूरे मान-सम्मान के साथ देखेंगे वह फ़िल्म।

'संपूर्ण रामायण', 'सती अनुसूया', 'जय संतोषी मां' जैसी फ़िल्में देखने जाने वाला दर्शक कभी निराश नहीं होता, क्योंकि फ़िल्म देखने जाने से पहले उसे पता होता है कि वह क्या देखने जा रहा है। ज़िन्दगी हो या फ़िल्म, छल-कपट रहित होने का मजा ही कुछ और है।

स्ट्रगलर भेद

फ़िल्मों में प्रवेश पाने के लिए, जो अपना घर-गांव छोड़कर मुंबई आता है, मुंबई आकर जो भूखा-प्यासा रहकर निर्माताओं के ऑफिस के चक्कर लगाता है, उसे स्ट्रगलर कहते हैं। ये स्ट्रगलर कई तरह के होते हैं, जेनुइन स्ट्रगलर, गलतफहमी का शिकार स्ट्रगलर, गरीब स्ट्रगलर, रईस स्ट्रगलर, घर से भागकर आने वाला स्ट्रगलर, घर से पूछकर आने वाला स्ट्रगलर वग़ैरह-वग़ैरह।

जब देश आजाद हो गया। हमारे युवाओं के सामने कोई महान् उद्देश्य नहीं बचा तो उनमें से ज्यादातर युवाओं ने फ़िल्मों की तरफ मुंह किया। भूखे रहे, धक्के खाए और गर्व से स्ट्रगलर कहलाए। ये फ़िल्मी दुनिया में न होकर भी फ़िल्मी दुनिया के हिस्से होते हैं। फ़िल्मी स्ट्रगलर्स निम्न प्रकार के होते हैं-

स्वप्नजीवी

ज्यादातर स्ट्रगलर स्वप्नजीवी होते हैं। वे सोचते हैं, किसी वीराने में या कहीं जंगल में या कहीं भीड़ में या...या कहीं भी, एक दिन कोई निर्माता उसे मिलेगा और कहेगा, ''इस महान् देश के हे भावी अभिनेता! तुम यहां क्यों पड़े हो? मेरे साथ मुंबई चलो। फ़िल्म इंडस्ट्री तुम्हारा इन्तजार कर रही है। चलो, खलनायक के साथ फाइट करो। नायिका के साथ गाना गाओ।''

नौकरी लगने की उम्र निकल जाने तक वह ख्यालों में बड़ी ईमानदारी से ऐसे स्वप्न देखता रहता है। एक दिन वे ही स्वप्न उसके साथ बेईमानी कर जाते हैं, लेकिन वह खुद कभी अपने सपनों में आस्था कम नहीं होने देता।

रईस का बेटा

स्वप्नजीवी स्ट्रगलर जब एक ही सपना कई बार देख लेता है तो उस सपने का प्रभाव कम हो जाता है, फिर उसका जोश भी कम हो जाता है। ऐसा ही एक और स्ट्रगलर होता है, 'रईस का बेटा'। उसमें भी अभिनेता बनने के लिए वैसा जोश नहीं होता, जैसा कि होना चाहिए, पर उसके बाप का पैसा उसे एक बार मुंबई का चक्कर लगवा ही देता है।

वह फ़िल्म इंडस्ट्री से जुड़े छोटे तबके के लोगों से दोस्ती करता है। उन पर पैसा खर्च करता है। असिस्टेन्ट निर्देशकों से दोस्ती करता है, उन्हें शराब पिलाता है, उनके अनुभव सुनता है और एक दिन उनके सुनाए अनुभव, अपने अनुभव समझकर वापस लौट आता है। बाप किसी रईस की बेटी से शादी करवा देता है। वह अपनी गृहस्थी बसा लेता है और फ़िल्म इंडस्ट्री हमेशा-हमेशा के लिए एक होनहार अभिनेता से वंचित हो जाती है।

गलतफहमी का शिकार

एक खास तरह का स्ट्रगलर होता है, गलतफहमी का शिकार स्ट्रगलर। वह किसी पिकनिक पर या किसी पार्टी में या किसी फॉर्म पर चिपकाने के लिए पहली बार फोटो खिंचवाता है और वह अपना पहला फोटो देखकर, देखता ही रह जाता है। वह पास से देखता है, फिर दूर से देखता

है, फिर पास से देखता है, सुबह उठकर देखता है, रात को सोने से पहले देखता है।

उसको लगता है, वह दुनिया के कुछेक सुन्दर लोगों में से एक है। वह सोचता है, एक हैंडसम आदमी के लिए क्या करना मुनासिब रहेगा? और वह फैसला करता है कि उसे फ़िल्म स्टार बनना चाहिए।

अब वह एक मौके की, एक चांस की तलाश में रहने लगता है, चांस मतलब मुंबई की टिकट के पैसों का जुगाड़। एक दिन उसे चांस मिल जाता है, वह चोरी करके मुंबई पहुंचता है और एक आदर्श स्ट्रगलर बन जाता है।

शेखचिल्ली स्ट्रगलर

एक शेखचिल्ली किस्म का स्ट्रगलर होता है। यह हमेशा सुखी रहता है, क्योंकि हमेशा फ्लैश फॉरवर्ड में जीता है। यह जब अपने ठिकाने से फ़िल्म निर्माता के दफ्तर को रवाना होता है तो वहां पहुंचने तक फ्लैश फॉरवर्ड में कई फ़िल्मों में काम कर चुका होता है, एक वैल एस्टेबलिश अभिनेता बन चुका होता है।

फिर फ़िल्मों में साथ-साथ काम करते-करते कटरीना कैफ से रोमांस भी हो जाता है, फिर बड़ा अभिनेता बनकर वापस अपने गांव आने का कार्यक्रम बनाता है तो मुसीबत खड़ी हो जाती है। कटरीना कैफ जिद्द पकड़ लेती है कि वह भी उसके साथ, उसके गांव चलेगी। अब बूढ़ी मां पूछेगी कि इस फ़िल्म की छोकरी को साथ क्यों लाया तो वह क्या जवाब देगा? मां कटरीना को धक्के देकर झोपड़े से बाहर निकाल देगी तो वह कटरीना को क्या मुंह दिखाएगा? इतने में स्टूडियो का चौकीदार कटरीना वाली समस्या हल कर देता है। वह उसे स्टूडियो में घुसने ही नहीं देता।

मासूम स्ट्रगलर

अखबार में एक विज्ञापन आता है- 'फलां-फलां कंपनी को अपनी आगामी फ़िल्म के लिए नए चेहरों की जरूरत है, इच्छुक उम्मीदवार 5000 रुपयों के ड्राफ्ट के साथ आवेदन करें।'

अब इस देश में ऐसा कौन बेवकूफ होगा, जो 5000 रुपयों की खातिर अभिनेता बनने का चांस गंवाएगा। ढेरों लोग 5000 रुपए और फोटो भेजते हैं, फिर उसके बाद उम्मीदवारों के पास कंपनी का पत्र आता है कि उनका सिलेक्शन हो गया है और इतना-इतना रुपया, इस-इस काम के लिए लेकर जल्दी मिलें।

बेचारे मासूम उम्मीदवार घर वालों को बेवकूफ बनाकर, दोस्तों से फेयरवेल पार्टी और शुभकामनाएं लेकर मुंबई पहुंचते हैं। पैसे निर्माता को देने के चार दिन बाद मालूम पड़ता है कि वे ठग लिए गए हैं। अब वापस भी जाएं तो किस मुंह से, दोस्तों से फेयरवेल पार्टी लेकर जो आए थे। बेचारे मासूम उम्मीदवार बिना मर्जी के स्ट्रगलर्स बना दिए जाते हैं।

जेनुइन स्ट्रगलर

ऐसा नहीं है कि सारे स्ट्रगलर ही गलत होते हैं और उनका स्ट्रगल बेकार जाता है। कुछ जेनुइन स्ट्रगलर भी होते हैं, जिनका स्ट्रगल एक दिन रंग जरूर लाता है। धर्मेन्द्र से लेकर गोविन्दा तक, कितने ही अभिनेता हुए हैं, जिनके संघर्षों की बातें सुन लें तो हौसले पस्त हो जाएं। आनंद बख़्शी और जावेद अख़्तर के फाक़ामस्ती के किस्से सुनें तो दांतों तले उंगली दबा लें। अपनी काबलियत को साबित करने के लिए किए जाने वाले संघर्षों को सलाम, लेकिन ऐसे स्ट्रगलर भी हैं, जिनमें न काबलियत है, न शक्ल है, सिर्फ फ़िल्मी दुनिया की चकाचौंध से खिंचे चले आते हैं, फुटपाथों पर सोते हैं और होटलों में काम करते हैं। ऐसे स्ट्रगलर्स त्रिशंकु की तरह अभिशापित होकर धोबी के कुत्ते की जून को प्राप्त हो जाते हैं, जो न घर का होता है न घाट का।

सौभाग्यशाली स्ट्रगलर्स

कुछ स्ट्रगलर्स बड़े अभागे होते हैं। लाख कोशिश करने के बाद भी उनको फ़िल्मों में प्रवेश नहीं मिलता, लेकिन कुछ स्ट्रगलर्स बड़े सौभाग्यशाली होते हैं, जिनको बिना कुछ किए ही फ़िल्मों में काम मिल जाता है, जैसे अनिल कपूर की सुपुत्री सोनम कपूर, महेश भट्ट की सुपुत्री आलिया भट्ट, डेविड धवन के सुपुत्र वरुण धवन, बोनी कपूर के सुपुत्र अर्जुन कपूर और सैफ अली खान की बहन सोहा अली खान।

अब आप पूछेंगे कि जब इनको फ़िल्मों में काम मिल गया तो इनको स्ट्रगलर क्यों कहा जाए? तो वह इसलिए कि कुछ लोगों को फ़िल्मों में काम मिलने के बाद उनका संघर्ष खत्म हो जाता है और कुछ लोगों का संघर्ष फ़िल्मों में काम मिलने के बाद शुरू होता है। ऐसे स्ट्रगलरों का स्ट्रगल अंतहीन होता है। सौभाग्य यह कि जब ऐसे स्ट्रगलर स्ट्रगल के लिए घर से निकलते हैं तो एयरकंडीशंड गाड़ी में बैठकर निकलते हैं।

समझदार स्ट्रगलर्स

कुछ स्ट्रगलर्स बड़े सयाने होते हैं। ऐसे स्ट्रगलर्स पता ही नहीं चलने देते कि वे स्ट्रगलर्स हैं। ये अपने दाना-पानी का बन्दोबस्त पहले कर लेते हैं, फिर ज्यों ही मौका पाते हैं, चुपके से फ़िल्मों में सरक लेते हैं, जैसे देव साहब, जॉनी वाकर साहब वग़ैरह-वग़ैरह।

कुछ स्ट्रगलर्स बनने कुछ आते हैं और बन कुछ और जाते हैं। ऐसे स्ट्रगलर्स को भी सयानों की श्रेणी में रखा जा सकता है, जैसे सुभाष घई एक्टर बनने के लिए आए थे। कुछ दिन कोशिश की, एक फ़िल्म में नायक का रोल मिला भी, लेकिन उस फ़िल्म में ग्यारह नायक थे, फ़िल्म चली नहीं। घई साहब समझ गए कि यह मुंह और मसूर की दाल मुश्किल है। ट्रेक बदल दिया, निर्देशक बन गए। अब अच्छा खा-कमा रहे हैं, सयाने स्ट्रगलर्स खाली हाथ नहीं लौटते।

जनरल स्ट्रगलर्स

फ़िल्मी स्ट्रगलर्स भी एक नहीं, कई-कई तरह के होते हैं। कुछ घुन्ने किस्म के स्ट्रगलर्स होते हैं। वे फ़िल्मों में एक्टर बनने के लिए कोशिश करते हैं, लेकिन पता नहीं चलने देते कि उनको फ़िल्मों में जाने का शौक है। वे सोचते हैं, कुछ बन कर अचानक लोगों को चौंका देंगे, लेकिन आज तक कोई चौंका नहीं पाया।

कुछ डटे रहने वाले स्ट्रगलर्स होते हैं। वे ठान लेते हैं कि जब तक कुछ बनेंगे नहीं, घर वालों को मुंह नहीं दिखाएंगे, अड़ियलपंती करते हैं वे खुद, सजा मिलती है उनके घर वालों को।

कुछ लोग मुंबई आते ही संघर्ष से डरकर भाग खड़े होते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि ऐसा करके वे अपने घरवालों पर और फ़िल्म इंडस्ट्री पर कितना बड़ा उपकार कर रहे हैं।

संबंध भेद

संबंधों यानी रिश्तों के बिना ज़िन्दगी चल नहीं सकती। रिश्ते हमारी दुनिया में भी होते हैं और फ़िल्मों की दुनिया में भी होते हैं, दोनों को तौलें तो हमारे रिश्ते, फ़िल्मों में दिखाए रिश्तों के सामने टुच्चे निकलेंगे। आइए, कुछ फ़िल्मी रिश्तों के बारे में जानें-

दोस्ती

फ़िल्मों में दोस्त-दोस्त के लिए हमेशा कुर्बानी देता है जब कि असल ज़िन्दगी में एक दोस्त दूसरे दोस्त से कुर्बानी की उम्मीद रखता है। फ़िल्मों में एक दोस्त को दूसरे दोस्त से पैसा उधार मांगने की जरूरत नहीं पड़ती, मालूम पड़ने पर दूसरा दोस्त न सिर्फ खुद भिजवा देता है, बल्कि अपने दोस्त को डांटता है कि तुमने मुझसे मांगा क्यों नहीं। जबकि असल ज़िंदगी में दोस्त पहले ही दरवाजे पर लिखवा कर रखता है कि 'उधार प्रेम की कैंची है।'

'शोले', 'बेमिसाल', 'तेरे मेरे सपने', 'मुन्ना भाई एमबीबीएस', और 'कुछ-कुछ होता है' जैसी फ़िल्मों के दोस्त पता नहीं किस दुनिया में पाए जाते हैं? हमारी दुनिया में तो मिलते नहीं, उल्टे कुंठा और दे जाते हैं।

रामू काका

फ़िल्मों में नायक या नायिका के घर पर एक बूढ़ा-सा भला-सा नौकर होता है रामू, जिसे वे बड़े आदर से रामू काका कहते हैं। जब तक वे लोग खाना नहीं खा लेते, रामू काका खाना नहीं खाता। नायक लापरवाही में बिना चादर ओढ़ ही सो गया हो तो रामू काका बड़े ही स्नेह से उसे चादर ओढ़ा कर बत्ती बुझाता है, न कभी तनख्वाह बढ़ाने की बात करता है, ना छुट्टी मांगता है। मन करता है, फ़िल्म वालों को पूछें कि ये फरिश्ते जैसे नौकर तुमको मिलते कहां से हैं। भई, एक-आध ऐसा नौकर हमको भी दिलवाओ, जिन्दगी-भर तुम्हारा एहसान मानेंगे। तुम तो आदर के नाम पर सिर्फ रामू काका बोलकर जबानी जमा-खर्च करते हो, हम तो उसके पांव भी छू लेंगे।

भाईचारा

अलग-अलग धर्म, भाषा और प्रदेश वालों की एकता फ़िल्मों में दिखाई जाती है तो बड़ा ही अच्छा लगता है। फ़िल्मों का भाईचारा देखकर लगता है, जैसे कोई सपना देख रहे हैं। फ़िल्मों का यह भाईचारा थोड़ा-सा भी मिल जाए तो यह दुनिया स्वर्ग बन सकती है। आहा! एक धर्म का आदमी इबादत कर रहा है। इतने में कोई उस पर वार करता है, तभी एक विपरीत धर्म का आदमी अपनी जान की परवाह न करते हुए वार अपने ऊपर ले लेता है। 'फ़िल्म वालो, ऐसी इंसानियत तुम कहां से इंपोर्ट करते हो? हमें पता दो। हम तुम्हारी सारी बेवकूफियां माफ कर देंगे।'

प्यार

'फ़िल्म वालो तुम कहते हो, 'प्यार किया तो डरना क्या?' यह कैसे हो सकता है? हां, कहीं मुंह काला करना हो तो बात अलग है, लेकिन प्यार करने से पहले भला आदमी तो दस बार सोचेगा। तुम लोगों का प्यार फुल टाइम जॉब जैसा है। तुम सब प्रोफेशनल प्रेमी हो। जिस तरह का खुल्लम-खुल्ला प्यार तुम लोग दिखाते हो, वैसा हम करें तो मोहल्ले वाले बाद में कूटेंगे, लड़की पहले ही सैंडिल हाथ में ले लेगी।

हमारी दुनिया में तो आज तक लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद या सोहनी-महिवाल जैसे कुल पन्द्रह-बीस प्रेमियों के जोड़े हुए हैं, जिनको गिनाने में भी शर्म आती है। तुम्हारी फ़िल्मों में तो जितनी फ़िल्में उतने ही लैला-मजनूं, बल्कि किसी फ़िल्म में तो तीन-तीन जोड़े लैला-मजनूं होते हैं, जो सारे-के-सारे अंत में अपनी गृहस्थी बसाते हैं। जबकि हमारे प्रेमियों में से कोई एक-आध ही लगन मंडप तक पहुंचता है। तुम्हारी फ़िल्मों के प्रेमियों की इस सफलता का राज़ क्या है?''

मां का प्यार देने वाला बाप

फ़िल्मों में एक नकचढ़ी बेटी अपने बाप का कहना नहीं मानती है, तब बाप कहता है, "बेटी, तुम्हारी मां बचपन में ही हमें छोड़कर दुनिया से चली गई थी। मैंने तुम्हें मां और बाप दोनों का प्यार देकर बड़ा किया है।' अपनी जवानी खराब कर चुका बाप बुढ़ापे में पछताता है। ऐसे बाप का दर्शकों पर गहरा असर पड़ता था। ऐसे अभिशप्त बाप के रोल के लिए स्वर्गीय नज़ीर हुसैन एक आदर्श कलाकार थे। अपनी हर फ़िल्म में यह डायलॉग बोलने के लिए वह अभिशप्त थे। हर फ़िल्म में उन्होंने अपनी इकलौती बेटी को मां और बाप दोनों का प्यार दिया, यानी सदाबहार रंडवे रहे।

अपने आदमी को गोली मारने वाला सरदार

''सरदार, मैंने आपका नमक खाया है।''

''तो अब गोली खा।''

धांय! धांय! धांय! सरदार ने अपने तीन आदमियों को गोली से उड़ा दिया, बेचारों ने जिन्दगी-भर अपने सरदार की सेवा की, जी-हजूरी की। एक दिन एक छोटी-सी गलती की तो मौत के घाट उतार दिया। अच्छा रिश्ता निभाया यार! अजीब सनकी सरदार हो। इन लोगों की तुम्हारे साथ निभती कैसे है? किसी दिन किसी ने सोते में गोली मार दी तो? इस तरह रोज तीन आदमी मारते रहे तो हफ्ते-भर में सारे आदमी निपट लेंगे, आखिर तुम्हारे पास है कितनी बड़ी फौज।

रहमदिल मकान मालकिन

नायक ने पिछले छ: महीने से किराया नहीं चुकाया है। कितने? छ: महीने से। कब देगा? देगा या नहीं देगा? कुछ पक्का नहीं। मकान मालकिन रोज धमकी देती है, ''शाम को किराया नहीं चुकाया तो सामान बाहर फेंक दूंगी।'' लेकिन रहमदिल मकान मालकिन कभी सामान बाहर नहीं फेंकती, बल्कि अगले दिन चुपके से दस रुपए उसकी जेब में रख देती है, ताकि नायक नौकरी की तलाश में निकल सके। नायक भी उसे मां जैसी इज़्ज़त देता है।

किरायेदार और मकान मालिक के बीच इतना मधुर रिश्ता! सिर्फ फ़िल्मों में ही संभव है, वरना इनके बीच में तो कुत्ते-बिल्ली जैसा बैर होता है। यकीन नहीं आता हो तो अदालतों में चलने वाले मुकदमे उठाकर देख लो।

फ़िल्मों में ही सही, मकान मालिक और किरायेदार के बीच ऐसा रिश्ता देखकर सतयुग की याद आती है।

तवायफ का त्याग

अकसर रईसों के बेटे तवायफों के कोठों पर जाते रहते हैं और अपने बाप की ब्लैकमनी एडजस्ट करते रहते हैं, लेकिन फ़िल्मों में नायक तवायफ के पास रुपया लेकर नहीं, दिल लेकर जाता है। रुपया लेकर जाता है नायक का बाप, ''मेरे बेटे को छोड़ने की कितनी कीमत लोगी? दस लाख, बीस लाख, तीस लाख, पचास लाख...।''

कहते हैं, घोड़ा घास से यारी कर ही नहीं सकता, लेकिन फ़िल्मों में कर लेता है। तवायफ पचास लाख रुपए ठुकरा देती है, ''इतने में तो मैं उसकी तस्वीर भी नहीं बेचूं।'' सेठ जी अपने रुपयों के बंडल लेकर लौट जाते हैं। एक तवायफ को नहीं खरीद पाते। खरीदते भी कैसे? वह फ़िल्मी तवायफ है, वह सती-सावित्रियों की भी मां होती है।

ईमानदार गरीब

फ़िल्मी गरीब का ईमानदारी से बहुत गहरा रिश्ता होता है, जैसे दुनिया-भर की ईमानदारी का ठेका उसी के पास हो। मजाल है कि रत्ती-भर भी जो बेईमानी कर ले। ऐसे ईमानदार की कोई कदर भी नहीं करता।

एक गरीब फ़िल्मी मां है, उसका एक गरीब बेटा है, बेटा स्मगलिंग करके चार पैसे कमाने लगता है। ज्यों ही मां को मालूम पड़ता है तो बुढ़िया ऐसे बिफरती है कि पूछो मत, ''जा अपने आपको पुलिस के हवाले कर दे।'' अरे, पुलिस कौन-सी दूध की धुली है। बेचारा बेरोजगार था, एक धंधा सामने दिख गया, सो करने लगा, जमाने के साथ चल रहा है।

धंधा बुरा है तो ज्यादा-से-ज्यादा लड़के को समझा दे कि बेटा, आइन्दा से यह काम मत करना, लेकिन नहीं। कहेगी, ''मैं इस पैसे को हाथ नहीं लगाऊंगी। मैं तुम्हारा घर छोड़ दूंगी।'' फिर वह किसी स्मगलर के घर बर्तन साफ कर लेगी, लेकिन स्मगलर बेटे का दिया नहीं खाएगी।

खलनायक का नृत्य प्रेम

कहते हैं, जो आदमी जितना ज्यादा बुरा होता है, वह उतना ही ज्यादा कला से दूर होता है, लेकिन हमारी फ़िल्मों के खलनायक का नृत्य कला से गहरा रिश्ता होता है। नाचती हुई नायिका की एक-एक भाव भंगिमा को वह कला समीक्षक की तरह देखता है। नायिका का एक नृत्य देखने के लिए वह कई-कई लोगों का अपहरण करके बांध देता है और उसे नाचने के लिए मजबूर करता है। खलनायक के इस तरीके की आप बुराई कर सकते हैं, लेकिन उसके नृत्य प्रेम की तारीफ करनी चाहिए।

पुलिस उसे गिरफ्तार करने के लिए पहुंचने ही वाली है। नायक उसे यमलोक भेजने के लिए बस, आने ही वाला है। इन बातों से वह वाकिफ भी है, इसके बावजूद वह जिस समर्पण भाव से नृत्य देखता रहता है, वह उसे नृत्य में योगदान देने वालों की अगली कतार में खड़ा करता है। फ़िल्मों में जो थोड़ा बहुत नृत्य बचा है, वह खलनायक के कारण ही तो बचा है।

विविध

फ़िल्मों से जुड़ी कुछ विविध बातें जैसे रोमांस, शादी, पार्टियां, मुहूर्त, अवार्ड आदि फ़िल्म वालों और फ़िल्म देखने वालों को समान रूप से प्रभावित करती हैं। फ़िल्मी ज़िंदगी में रोज़मर्रा की हलचलें हैं। शादी और रोमांस को लेकर बला की अफवाहें गर्म रहती हैं, खंडन-मंडन चलता रहता है। इन्हीं सब बातों की यहां चर्चा कर रहे हैं -

रोमांस

एक अभिनेता और एक अभिनेत्री के बीच होने वाले रोमांस के परिणाम बड़े दूरगामी होते हैं। इसे दो कलाकार परस्पर करते हैं, जिससे कई फ़िल्मी पत्रकारों की रोजी-रोटी चलती है और लाखों पाठकों को आनंद प्राप्त होता है।

समाज में कोई रोमांस करता हुआ रंगे हाथों पकड़ा जाए तो इससे उनकी नाक कटती है। फ़िल्मों में इसका उलटा होता है, इससे उनकी इज़्ज़त बढ़ती है, कैरियर बनता है, लायक कहलाता है। एक कलाकार बड़े गर्व से रोमांस करता है, बड़ी चतुराई से उस खबर को लीक करता है और जब कोई पत्रकार उससे पूछता है तो बड़ी शान से उसका खंडन करता है। पहले रोमांस फिर खंडन, फिर एक नया रोमांस, फिर एक नया खंडन। यही परंपरा है, यही सत्य है, यही सुन्दर है, यही कल्याणकारी है। रोमांस के बिना किसी कलाकार का कल्याण नहीं हो सकता।

शादी

फ़िल्मों से जुड़े लोगों की शादी दो तरह की होती है। एक वह शादी, जिसके होने की घोषणा तो होती है मगर शादी कभी नहीं होती। दूसरी वह शादी, जो हो चुकी होती है मगर हुई नहीं मानते, यानी होने की घोषणा नहीं करते, ''तो यार शादी की है, कोई पाप तो किया नहीं है, फिर छिपाते क्यों हो?''

फ़िल्म वालों के साथ ऐसा ही होता है। वे रोमांस करके मुंह काला करते फिरते हैं तो सबको बता देते हैं और शादी जैसे पवित्र काम करते हैं तो छिपा लेते हैं। इससे उनकी इमेज खराब होती है। शादीशुदा नायक-नायिकाओं को उनके फैन रिजेक्ट कर देते हैं। वाह, क्या फैन हैं! बेचारे कलाकारों का घर बसाना इनसे बर्दाश्त नहीं होता। फ़िल्म अभिनेत्रियां जब शादी करती हैं तो उनकी पहली पसंद होती है, सेकेन्ड हैंड पति। पता नहीं क्यों, उनको नया पति जमता ही नहीं। शादीशुदा लोग नोट करें।

साहब बाथरूम में हैं

फ़िल्म के आदमी को जैसे ही कामयाबी मिलती है, वह बाथरूम में चला जाता है। जब भी फोन करो जवाब मिलता है, ''साहब बाथरूम में हैं।'' अरे भाई, इतनी सफलता पाने के बाद

तुम्हें एक ही जगह मिली, बाथरूम। आदमी बड़ा बनने के बाद हिल स्टेशन जाता है, तीर्थ करने जाता है और एक तुम हो कि बाथरूम में घुसे पड़े हो।

एक दिन मैंने एक निर्माता से पैसे लेने के लिए फोन किया तो जवाब मिला कि साहब बाथरूम में हैं। दूसरे दिन फोन किया तो फिर वही जवाब मिला। तीसरे दिन फोन किया तो फिर वही जवाब मिला, इस पर मैंने कहा कि भैया, तुम्हारे साहब पिछले तीन दिन से बाथरूम से निकल नहीं रहे हैं। देख लो, कहीं मर-मरा तो नहीं गए हैं।

फ़िल्मी पार्टियां

फ़िल्मी लोगों की पार्टियां वास्तव में पार्टियां कम, आपसी संबंधों की जन्मकुंडलियां ज्यादा होती हैं। एक पार्टी जितने सवालों के जवाब देती है, उतने ही सवाल खड़े कर जाती है, उतनी ही चर्चाएं छोड़ जाती है।

कौन किसके साथ पार्टी में आया और किसके साथ वापस गया? कौन लेट आया और जल्दी गया? कौन आया ही नहीं?

- किसने किससे बात नहीं की और कौन लगातार किसके साथ कोने में खड़ा बतियाता रहा?

- किसने किसको टोपी पहनाई तो किसने चार पेग चढ़ाने के बाद किसकी पगड़ी उछाली?

- किसने किसके कंधे पर हाथ रख दिया और तनाव बढ़ गया?

फ़िल्मी पार्टियों में जाम भी टकराते हैं और अहंकार भी टकराते हैं, रंग जमता भी है और रंग में भंग भी पड़ता है।

फ़िल्मों से संन्यास

कुछ कलाकार अपने फ़िल्मी कैरियर के एक खास मोड़ पर फ़िल्मों से संन्यास की घोषणा कर देते हैं कि अमुक-अमुक टाइम पर वह फ़िल्मों से संन्यास ले रहा है। शायद उनको पता चल चुका होता है कि अमुक-अमुक टाइम पर अगर वह संन्यास नहीं लेगा तो पब्लिक जबरन उसे संन्यास दिलवा देगी।

अखबारों में चर्चा होती है, दुश्मन खुश होते हैं, चमचे हाय-तौबा मचाते हैं कि महात्म्न, यह आप क्या करने जा रहे हैं और तटस्थ आदमी जानता है कि वह कहीं नहीं जाने वाला। संन्यास-वंन्यास सब पब्लिसिटी स्टंट है। उसका दिल कह रहा होता है, ''ए फ़िल्म वालो मैं जा रहा हूं, मुझे रोको, मुझे समझाओ कि अभी मेरे संन्यास की उम्र नहीं आई है। मुझे नई फ़िल्मों के कॉन्ट्रेक्ट्स के बंधनों में बांध लो।''

लेकिन विधि का विधान देखिए कि कुछ निर्देशकों का कैरियर और निर्माताओं का धंधा चौपट करते हुए अमुक-अमुक टाइम पर ही अमुक कलाकार की संन्यास की इच्छा पूर्ण हो जाती

है।

मुहूर्त

किसी भी फ़िल्म को बनाने से पहले उसका मुहूर्त करना जरूरी होता है, लेकिन यह कतई जरूरी नहीं कि जिस फ़िल्म का मुहूर्त हो, वह बन ही जाए। जो आदमी फ़िल्म का मुहूर्त करता है, वह मुहूर्त करते ही निर्माता कहलाने लगता है।

फ़िल्म बनाने के लिए इच्छा और क्षमता की जरूरत होती है। अब मान लीजिए एक आदमी की इच्छा तो है, मगर क्षमता नहीं है तो वह क्या करेगा? वह फ़िल्म का मुहूर्त कर लेगा। अब क्षमता के लिए वह फाइनेन्सर और डिस्ट्रीब्यूटर का मुंह देखता है। मुहूर्त एक चारा है, जो फाइनान्सर और डिस्ट्रीब्यूटर को डाला जाता है। वे चर गए तो चारा है, नहीं तो निर्माता बे चारा है।

भेड़चाल

भेड़ें दुनिया-भर में होती हैं। भेड़ें होती हैं तो जाहिर है, उनकी चाल भी होती होगी, लेकिन यह भेड़चाल वाली कहावत सिर्फ हमारे देश में चलती है, खासकर वह भी फ़िल्मी दुनिया में। भेड़ एक बार अपनी चाल बदल सकती है, लेकिन फ़िल्मी दुनिया अपनी भेड़चाल वाली चाल नहीं बदल सकती है। आजकल तो भेड़ें भी एक-दूसरे पर ताना कसती हैं कि तुम भी क्या हमेशा फ़िल्मचाल चलती रहती हो।

100 में से 95 फ़िल्में भेड़चाल चलती हुई फ्लॉप के कुएं में गिर रही हैं, लेकिन बनाएंगे बदले की फ़िल्म, क्योंकि सभी बना रहे हैं तो चलो भेड़चाल और गिरो कुएं में!

अवार्ड

जिस तरह सात सुर, सात फेरे, सात जनम, सात धाम या सात समन्दर होते हैं, वैसे ही एक फ़िल्म के भी सात तल, सात स्टेज माने जाते हैं।

1. मुहूर्त होना 2. शूटिंग शुरू होना, 3. शूटिंग पूरी होना, 4. फ़िल्म का बिकना, 5. रिलीज होना, 6. चलना और 7. अवार्ड मिलना।

अवार्ड दो तरह के होते हैं, सरकारी अवार्ड और प्राइवेट अवार्ड।

प्राइवेट अवार्ड बहुत चलने वाली फ़िल्म को मिलता है और सरकारी अवार्ड बिल्कुल नहीं चलने वाली फ़िल्म को मिलता है। कभी-कभार किसी अच्छी फ़िल्म को भी अवार्ड मिल जाता है, सरकार और प्राइवेट देने वालों की लाख कोशिशों के बावजूद।

विदेश में शूटिंग

आजकल ज्यादातर निर्माता विदेशों में शूटिंग करने लगे हैं। इसका दोनों पक्षों को फायदा पहुंचता है। निर्माता को कलाकारों की एक साथ डेट्स मिल जाती हैं और कलाकारों को निर्माता के खर्चे पर विदेश घूमने का, मौज-मस्ती करने का मौका मिल जाता है।

कहानी किसी रईस नायक की है तो नायक घूमने या पढ़ने के लिए विदेश चला जाता है और गरीब या मध्यमवर्गीय परिवार की कहानी है तो स्वप्न दृश्य में नायक एक गीत गाने के लिए विदेश चला जाता है।

यहां हमारा निर्देशक एक गलती कर बैठता है। उस खूबसूरत विदेशी लोकेशन पर, खूबसूरत नायिका को स्वीमिंग कास्ट्यूम या कम कपड़ों में नाचते हुए शूट करके ले आता है। अब दर्शकों की नजर नायिका के जिस्म से हटे तो वे लोकेशन देखें। खूबसूरत लोकेशन और अर्द्धनग्न नायिका में चुनाव का मौका आ जाए तो हमारा भारतीय दर्शक साफ कह देता है, ''लोकेशन गई भाड़ में, अपन तो नायिका को देखेगा।'' और तब निर्माता का विदेशी लोकेशन पर किया खर्चा पानी में चला जाता है।

ईगो प्रॉब्लम

यूं तो ईगो की प्रॉब्लम अकसर बड़े लोगों में पाई जाती है, मगर फ़िल्मी सितारों में यह प्रोब्लम कुछ ज्यादा ही होती है। इसी के चलते वे कुछ कलाकारों के साथ काम नहीं करते। इस पर भी कोई सनकी निर्माता दो परस्पर विरोधी कलाकारों को साथ साइन कर ले तो उस निर्माता का, उस फ़िल्म की कहानी का और उस फ़िल्म का भगवान ही मालिक होता है।

एक फ़िल्म में एक बड़े कलाकार को एक छः महीने के बच्चे के साथ शॉट देना था। अब बच्चा तो बच्चा ही होता है, हंसने का शॉट लेना था, उसको हंसी आ ही नहीं रही थी। उसे हंसाने की कोशिश की गई, तो उसने कलाकार की गोद में सू-सू कर दिया। एक्टर की ईगो को चोट पहुंची। उसने उसी वक्त घोषणा कर दी कि वह उस बच्चे के साथ किसी फ़िल्म में काम नहीं करेगा। कलाकार के ईगो के कारण बच्चे को फ़िल्म से निकालना पड़ा।

संवाद और सीन जाने-पहचाने

कुछ संवाद या सीन सदाबहार होते हैं, जो हजारों फ़िल्मों में सैकड़ों बार दोहराए जा चुके होते हैं। ये इतने जाने-पहचाने होते हैं कि दर्शक को पहले ही पता चल जाता है कि अब यह पूछेगा, तो वह यह जवाब देगा। आइए, देखें कुछ बानगियां-

यह पूछिए कि क्या नहीं हुआ

जैसे कोई ठाकुर या कोई सरदार अपने आदमियों के साथ खड़ा है, कोई जग्गा नाम का आदमी उसके एक आदमी को उठाकर ले गया है तब उसका एक चमचा बदहवास-सा भागा हुआ आकर उपरोक्त खबर देगा तो दोनों के बीच हूबहू ऐसे संवाद होते आए हैं और होते रहेंगे–

''हुजूर, गजब हो गया।''

''क्या हुआ?''

''यह पूछिए कि क्या नहीं हुआ?''

''अबे, खड़ा-खड़ा पहेलियां ही बुझाता रहेगा या कुछ बकेगा भी।''

''जग्गा के आदमी हमारे आदमी को उठाकर ले गए।''

तड़ाक! सरदार उसे एक चांटा मारता है।

''अब खड़े-खड़े मेरा मुंह क्या ताक रहे हो? जाओ, उसे जाकर ढूंढो।''

मैं तुझे इतनी आसानी से नहीं मारूंगा

एक जाना-पहचाना डायलॉग आपको हर दूसरी फ़िल्म में सुनने को मिल जाएगा, ''मैं तुझे इतनी आसानी से नहीं मारूंगा।'' दर्शक समझ जाता है कि इसकी मति मारी गई है, अब यह इसे नहीं मार पाएगा और होता भी यही है वह बच के निकल जाता है। जितना जाना-पहचाना डायलॉग, उतना ही जाना-पहचाना सीन का अन्त।

तड़पा-तड़पा कर मारने के लालच में, हाथ में आया दुश्मन बच निकलता है। इसीलिए कहा गया है, 'लालच बुरी बला है', ''अब खुद तड़प। वह वापस तुम्हारे हाथ थोड़े ही आएगा। किसी ढाबे में बैठा अंडा-करी का आर्डर दे रहा होगा। ऊपर वाला मौका बार-बार थोड़े ही देता है।'' पृथ्वीराज चौहान ने भी यही गलती की थी। हमारा नायक भी यही गलती करता है।

तुम इंसान के रूप में देवता हो

फ़िल्मों में किसी ने किसी पर जरा-सा अहसान किया नहीं कि वह सामने वाले को देवता बना लेता है, खासकर बूढ़े आदमी को। तूफानी रात में एक नौजवान, एक लड़की को उसके घर

पहुंचाने जाता है तो उस लड़की का बूढ़ा बाप सदियों से एक ही संवाद बोलता आया है, ''बेटा तुम इंसान के रूप में देवता हो।''

जवाब में वह नौजवान कहता है, ''जी, यह तो मेरा फर्ज था।''

एक खूबसूरत लड़की को, उसके घर पहुंचा देना कोई फर्ज-वर्ज नहीं है। अगर यह फर्ज है तो दुनिया का हर आदमी इस फर्ज को निभाने के लिए तैयार मिलेगा, बल्कि दो फर्ज निभाने वाले टकरा गए तो आपस में कहीं लड़ न पड़ें कि 'ये फर्ज तो मेरा है। इसे मैं निभाऊंगा, तू कोई और तूफान में फंसी लड़की ढूंढ।'

यह बात अपने दिल पर हाथ रख के कहो

नायक नायिका को जब भी अपने प्रेम का विश्वास दिलाना चाहता है तो कहता है, ''यह बात अपने दिल पर हाथ रखकर कहो कि मैं तुमसे प्यार नहीं करता।'' सामने वाला दिल पर हाथ रखे बिना ही विश्वास कर लेता है, क्योंकि दिल प्रेमियों की पहली और आखिरी अदालत होती है। अदालत क्या? घर-बार और हवालात भी दिल ही होता है।

जैसे कोर्ट में गीता पर हाथ रखवाया जाता है वैसे ही प्रेम में दिल पर हाथ रखवाया जाता है। हालांकि सर या पर्स पर हाथ रखवाया जाए, तो हो सकता है कि सच जल्दी सामने आए।

अपने प्रेम का विश्वास दिलाने के और भी ठोस सबूत गिनाए जा सकते हैं। लड़का कह सकता है कि पिछले तीन साल में मैंने तुम्हें इतनी फ़िल्में दिखाईं, इतनी आइसक्रीम खिलाई और इतने लंच करवाए, इतने घंटे बस स्टॉप पर इन्तजार किया वग़ैरह-वग़ैरह, लेकिन नहीं, बासी ही सही, यह संवाद बोलने का मजा ही कुछ और है कि 'यह बात अपने दिल पर हाथ रख के कहो कि मैं तुमसे प्यार नहीं करता।'

अपने आपको कानून के हवाले कर दो

''अपने आपको कानून के हवाले कर दो।'' यह संवाद फ़िल्मों में कम-से-कम एक लाख बार सुना जा चुका है। पुलिस वाला नायक से कह रहा है, ''अपने आपको कानून के हवाले कर दो।'' नायक गुंडे से कह रहा है, ''अपने आपको कानून के हवाले कर दो।'' गुंडा पुलिस से कह रहा है ''अपने आपको कानून के हवाले कर दो।'' लेकिन मजाल है कि कोई किसी की नेक सलाह मान ले और मजाल है कि कोई किसी को यह नेक सलाह देने से बाज आए। बेचारा कानून दोनों को टुकुर-टुकुर देखता रहता है, इस इन्तजार में कि अपराधी अपने आपको कानून के हवाले करे तो वह कुछ कार्रवाई-शारवाई करे।

मेरे बेटे को छोड़ने का क्या लोगी?

अमीर बाप का बेटा किसी गरीब लड़की से प्यार करने लगा है। अमीर बाप गरीब लड़की के पास जाता है और कहता है, ''मेरे बेटे को छोड़ने का क्या लोगी?'' पिछले हफ्ते रिलीज हुई

फ़िल्म को मिलाकर यह संवाद फ़िल्मी बापों द्वारा अब तक पचास हजार सात सौ अड़तालीस बार बोला जा चुका है।

कई अमीर बाप नोटों की गड्डियां लेकर प्यार का सौदा करने निकले, लेकिन हर बार असफल होकर लौटे। अपनी बेइज्जती करवाई, सो तो करवाई, नोटों की गड्डियों की भी बेइज्जती करवा डाली।

कोई होशियार छोकरी हो तो छोकरे को कॉन्फिडेन्स में लेके पहले तो बुड्ढे से पांच-दस लाख झटक ले, फिर बोल दे कि ''मैंने तो तेरे छोकरे को छोड़ दिया। तेरा छोकरा इच मेरे को नहीं छोड़ रहा। बोल क्या करने का?'' तभी इस डॉयलाग से पीछा छूटेगा।

अब एक बार मुस्करा दो

हीरो जा रहा है, कहीं दूर देश। नायिका खड़ी रो रही है। रवानगी का टाइम हो चुका है नायक जाते-जाते नायिका से एक अजीब फरमाइश करता है, ''अब एक बार मुस्करा दो।''

अरे भई, मुस्करा कहां से दे। एक बार में एक ही काम हो सकता है या तो कोई रो सकता है या मुस्करा सकता है। पता है, रोते-रोते मुस्कराना कितना मुश्किल काम है? हंसी उड़ने के पूरे चांस रहते हैं, फिर आदमी न इधर का रहता है, ना उधर का।

लेकिन नहीं, नायक नायिका को जाते समय मुस्कराते हुए देखना चाहता है। नायिका रोते-रोते मुस्कराने की कोशिश करती है। मुस्कराने की कोशिश नायिका करती है, तकलीफ हॉल में बैठे दर्शकों को होती है।

कन्यादान कौन करेगा

एक और डायलॉग है, जिसने कई बार दर्शकों की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की सांस नीचे ला दी है, ''कन्यादान कौन करेगा?'' शहनाई बज रही है, फेरों की तैयारी हो चुकी है, वर-वधू मंडप में बैठ चुके हैं। इतने में पंडित एक यक्ष प्रश्न पूछता है, ''कन्यादान कौन करेगा?''

''भई पंडित! कन्यादान कौन करेगा का क्या मतलब? लड़की का बाप करेगा और कौन करेगा? तू तो यह बोल कि लड़की के बाप को लाओ और कन्यादान करवाओ। लड़की के बाप के ऊपर गबन का आरोप है और अभी-अभी वह पुलिस के डर से भाग गया है। यह बात तो तुझे पता ही नहीं, सिर्फ दर्शकों को पता है, फिर तूने यह प्रश्न क्यों किया कि ''कन्यादान कौन करेगा?''

खैर, फिर लड़की की शादी भी होती है, कन्यादान भी हो जाता है, लड़की ससुराल भी चली जाती है, लेकिन कई बार इस छोटे से सवाल ने शादी के मंडप में सनसनी पैदा की है कि "कन्यादान कौन करेगा?"

तुमने आने में बहुत देर कर दी

बीस साल पहले एक फ़िल्म आई थी। बाप अस्पताल में बीमार पड़ा है, डॉक्टर दवाओं की पर्ची बेटे को देकर कहता है कि ये दवाएं जल्दी ले आओ। बेटा भागा-भागा जाके कहीं से जुगाड़ बैठाकर दवाएं लेकर आता है। उसका बाप मर चुका है। डॉक्टर उससे कहता है, ''तुमने आने में बहुत देर कर दी।''

उसके बाद वैसी ही परिस्थितियों में जब-जब भी कोई बेटा दवाओं की पर्ची लेकर बाजार जाता है तो लौट के उसे डॉक्टर का वही रटा-रटाया जवाब मिलता है, ''तुमने आने में बहुत देर कर दी।'' पता नहीं बेटा कब टाइम पर आएगा, पता नहीं कब हमारे संवाद लेखक को इसके बदले में नया संवाद सूझेगा।

मैं तुम्हारे बच्चे की मां बनने वाली हूं

जैसे आत्मा अमर होती है वैसे ही कुछ संवाद भी अमर होते हैं। जब तक सिनेमा रहेगा, तब तक वे संवाद भी रहेंगे। उनमें से एक संवाद है, ''मैं तुम्हारे बच्चे की मां बनने वाली हूं।''

यह संवाद कई-कई मौकों पर कई-कई फ़िल्मों में बोला गया है। किसी फ़िल्म में यह संवाद सुनकर किसी को अपार खुशी मिली है तो किसी फ़िल्म में यह संवाद सुनकर किसी की नानी मरी है, किसी ने यह संवाद बोलकर मुसीबत मोल ली है, तो किसी ने सुनकर अपने आप को आफत में पाया है। ऐसा असरदार और बहुआयामी है यह संवाद, 'मैं तुम्हारे बच्चे की मां बनने वाली हूं।' जितना सुखदायी, उतना ही डरावना, उतना ही बोर और बासी। भगवान पता नहीं, कब ऐसे संवाद से मुक्ति दिलाएगा।

ऑपरेशन थिएटर के बाहर

हमारा देश परंपराओं में आस्था रखता है क्योंकि परंपराओं पर चलना आसान होता है। फ़िल्मों के मामले में भी हम घोर परंपरावादी हैं। इस बात का सबूत हैं, फ़िल्मों के जाने-पहचाने सीन।

ऑपरेशन थिएटर के बाहर लाल बत्ती जल रही है। परिवार के सदस्य परेशान हाल बैठे हैं, उनमें से एक टहल रहा है। अगर यह सीन इंटरवल से पहले है तो दर्शक को पता है कि क्या होगा और क्लाइमेक्स से पहले है तो दर्शक को पता होता है कि क्या होगा। इन दो जगहों के अलावा यह सीन होता ही नहीं।

वैरी सिंपल! अगर यह सीन इंटरवल से पहले है तो डॉक्टर मुंह लटकाए थिएटर से बाहर आएगा, टहल रहे व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखेगा और या तो आगे बढ़ जाएगा या कहेगा, ''हम मरीज को नहीं बचा पाए।'' अगर यह सीन महिला वार्ड का है तो डॉक्टर एक ही समाचार लाएगा, "माफ कीजिए, हम बच्चे की मां को नहीं बचा पाए।''

और अगर यह सीन क्लाइमेक्स से पहले है तो डॉक्टर मुंह लटकाए थिएटर के बाहर आएगा, टहल रहे व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखेगा, थोड़ा मुस्कराएगा और कहेगा, ''मरीज को होश आ गया है। आप मिल सकते हैं।''

नायिका से 'हां' भरवाना

नायिका शायद नायक से प्यार करती है, लेकिन अभी तक उसने 'हां' नहीं भरी है। नायक उससे हां भरवाना चाहता है, ''अबे बेवकूफ! यह लड़की पिछले तीन घंटे से यहां एकांत में तुम्हारे साथ है। अगर प्यार नहीं करती तो झख मारने को यहां क्यों आती?'' लेकिन वह यह बात नहीं समझेगा। वह तो बस, जैसे आज स्टाम्प पेपर पर लिखवा कर ही दम लेगा।

मुझसे प्यार करती हो तो 'हां' भरो नहीं तो मैं 'यह कर लूंगा', 'वह कर लूंगा', 'यहां से कूद जाऊंगा।' नायिका बड़ी ही मासूमियत से कहती है कि 'अच्छा तो फिर कूद जाओ।' और नायक कूद जाता है।

अब नायिका झूठ-मूठ बेहोश पड़े नायक के पास ऐसे विलाप करती है, जैसे किसी सती-सावित्री का पति मर गया हो। नायक एक आँख खोलकर मजे लेने लगता है। उसके साथ ही हमारा पंरपरावादी दर्शक भी मजे में डूबने-उतराने लगता है। दर्शक की स्वीकृति मिलते ही यह सीन परंपरा बन गया, हर तीसरी फ़िल्म में आने लगा।

खूंखार खलनायक

हर फ़िल्म में एक खूंखार खलनायक होता है। वह कितना बड़ा खूंखार है, यह दिखाने के लिए उसकी खूंखारी में तरह-तरह के कसीदे काढ़े जाते हैं, तरह-तरह के संवाद बुलवाए जाते हैं। ऐसा ही एक सीन एक दिन परंपरा बन गया, जब खलनायक ने यह डायलॉग बोला, ''दुनिया में ऐसी कोई जेल नहीं बनी, जो मुझे एक महीने से ज्यादा कैद रख सके।''

और फिर एक महीने के अन्दर-अन्दर वह खलनायक जेल तोड़ कर भाग जाता है। अब हर खूंख्वार खलनायक को एक महीने के अन्दर-अन्दर जेल तोड़ कर भागना पड़ता है। एक दिन भी ज्यादा लग गया तो मिल गई इज्जत मिट्टी में।

अब तो खलनायक की इज्जत अफ़जाई में पुलिस को यह संवाद बोलना चाहिए कि, ''हुजूर, यह तो आपका बड़प्पन है कि आप एक महीना इस जेल में टिके रहे, वरना पहले भाग जाते तो कोई आपका क्या बिगाड़ लेता।''

अपने आदमियों से कहो, बंदूकें फेंक दें

अभी पिछले दिनों एक थिएटर में मैं एक फ़िल्म देख रहा था, क्लाइमेक्स का सीन था, खलनायक और नायक के आदमियों के बीच फायरिंग चल रही थी। इतने में नायक और नायक के आदमी बड़ी फुर्ती से खलनायक को काबू कर लेते हैं मगर हॉल में एक भी ताली नहीं बजी।

मैं हैरान, पड़ोसी दर्शक से पूछा तो वह बोला ''अभी ताली कैसे बजाएगा। अभी तो खलनायक का आदमी, नायक की मां को बंधा हुआ लाएगा और नायक से कहेगा कि अपने आदमियों से कहो, बंदूकें फेंक दें।'' और वही हुआ। नायक की अपहरण की गई मां को दिखाया गया और खलनायक की आवाज गूंजी, 'अपने आदमियों से कहो बंदूकें फेंक दें।' और नायक के आदमियों ने बंदूकें फेंक दीं।

इस वक्त मैं एक पुलिस इंस्पेक्टर की हैसियत से आया हूं

बहुत पहले एक फ़िल्म आई थी। उस फ़िल्म में एक पुलिस इंस्पेक्टर अपने एक दोस्त को गिरफ्तार करने जाता है। दोस्त बेकसूर है, वह अपने इंस्पेक्टर दोस्त से गिड़गिड़ाकर मदद करने के लिए कहता है, मगर वह इंस्पेक्टर अपने फर्ज और कानून की रक्षा के लिए दोस्ती को ताक पर रख देता है और दोस्त से कहता है, ''इस वक्त मैं एक दोस्त नहीं, पुलिस इंस्पेक्टर की हैसियत से यहां आया हूं।'' इसलिए कहते हैं कि पुलिस वाले किसी के सगे नहीं होते। पता नहीं कैसे और क्यों वह फ़िल्म हिट हो गई? वह दिन है और आज का दिन, किसी फ़िल्म में किसी इंस्पेक्टर ने किसी दोस्त की मदद नहीं की। हर बार बेकसूर दोस्त गिड़गिड़ाता है और हर बार इंस्पेक्टर दोस्त वही टके-सा जवाब दे देता है, ''इस वक्त मैं एक दोस्त नहीं, पुलिस इंस्पेक्टर की हैसियत से यहां आया हूं।'' और हर बार दर्शक उस फ़िल्म को उसकी हैसियत दिखा देते हैं।

कानून को अपने हाथ में मत लो

एक सीन बहुत बार रिपीट हुआ है। खलनायक खून-खराबा करता है तो कोई बात नहीं, ज्योंही नायक खलनायक को मारने लगता है तो पुलिस इंस्पेक्टर या कोई और उपदेशक आता है और नायक को रोक देता है, ''कानून को अपने हाथ में मत लो।''

क्यूं भाई? खलनायक बड़ी मुश्किल से हत्थे चढ़ा है। इसने नायक की जिन्दगी बर्बाद कर दी, उसकी बहन की शादी तुड़वा दी, बाप की नौकरी छुड़वा दी। नायक को तीन साल के लिए जेल भिजवा दिया। आज पकड़ में आया है तो नायक को अपनी भड़ास निकाल लेने दो। खलनायक जब चाहे कानून हाथ में ले सकता है, नायक को एक बार तो कानून हाथ में लेने दो। जब कानून सबके लिए बराबर है तो फिर नायक के लिए यह रोक क्यूं? उसे भी कानून हाथ में लेने की बराबर की छूट होनी चाहिए।

नायक का तकिया-चादर लेके बाहर सोना

नायिका घर से भागी हुई है, नायक आवारा और मवाली किस्म का है, दोनों की मुलाकात होती है। नायिका बेघर है, उसको सोने के लिए एक छत चाहिए। नायक को यह बात पता चलती है। वह नायिका को अपनी खोली में लेकर आता है। रात को सोते वक्त नायिका चौंककर पूछती है, ''तुम कहां सोओगे?'' नायक चुपचाप एक तकिया और चादर उठाता है और खोली के बाहर जाकर सो जाता है।

यह सीन हमारे भारतीय नायक के चरित्र का दर्पण है। नायक चाहे उठाईगीरा हो, चाहे मवाली हो। इस तरह के सीन में वह पहले भी बाहर सोता था, आज भी बाहर सोता है और कल भी बाहर सोएगा। ''ओ विदेशियों आओ, हमारे हीरो का चरित्र देखो। इस मवाली से कुछ सीखो।''

परदेसी को दिल दे बैठना

भारतीय फ़िल्म की नायिका अकसर परदेसी को दिल दे बैठती है। प्रेम के मामले में परदेसी उसकी पहली पसंद है। 'मधुमती' फ़िल्म की मधु हो, चाहे 'राम तेरी गंगा मैली' की गंगा हो। ऐसी फ़िल्मों में एक बाबू किस्म का आदमी आता है, जो परदेसी होता है। नायिका उसे पहली नजर में दिल दे बैठती है और वह परदेसी बाबू पहली मुलाकात में उसे गर्भवती बना देता है।

अब न जान, न पहचान, न परेदसी बाबू का पता मालूम, बस! नायिका को पक्का विश्वास होता है कि उसका परदेसी बाबू एक दिन जरूर आएगा और साब वह आता है। पूरे गांव में लड़की की थू-थू होने के बाद, जब उसका बाप आत्महत्या कर लेता है और गांव वाले उस लड़की को गांव से निकाल देते हैं तब आता है, पर परदेसी आता जरूर है।

नायक पर खून का इल्जाम लगना

खलनायक किसी को चाकू घोंप देता है। अब या तो नायक वहां ऑलरेडी आने वाला है या खलनायक ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता है कि नायक को वहां आना पड़ता है, जहां लाश पड़ी है।

नायक आते ही पहले लाश में घोंपा हुआ चाकू निकालता है और चाकू निकालकर तब तक लाश के पास बैठा रहता है, जब तक खलनायक उसकी फोटो नहीं खींच लेता या कोई गवाह उसको आकर देख नहीं लेता, फिर वह गिड़गिड़ाता है, ''यह खून मैंने नहीं किया। आपको धोखा हुआ है।''

'नायक भाई, इस तरह तू एक बार नहीं, सैकड़ों बार फंस चुका है। कोई एक बार गलती करे तो समझ में भी आता है कि गलती हो गई होगी, लेकिन तू हर बार लाश के पास फोटो खिंचाने पहुंच जाता है। पहले फंसता है, फिर अपनी बेगुनाही के सबूत ढूंढता फिरता है। पहले से ही लाश से दूर रहा कर ना।'

कानून के हाथ बहुत लंबे होते हैं

कानून के हाथ बहुत लंबे होते हैं। यह संवाद कई फ़िल्मों में इस तरह जोर देकर बोला जाता है, जैसे बोलने वाला जबरदस्ती विश्वास दिला रहा हो कि 'भई तुम मानो या न मानो तुम्हारी मर्जी, लेकिन कानून के हाथ बहुत लम्बे होते हैं।' कई फ़िल्में देखने के बाद यह बात मेरी समझ में आई कि वाकई कानून के हाथ बहुत लम्बे होते हैं। इतने लंबे कि जब तक अपराधी आसपास होता है, वे लंबे हाथ उसे पकड़ नहीं सकते।

जब अपराधी अपराध करके भाग के कानून से बहुत दूर चला जाता है, ठेठ फ़िल्म की आखिरी रील तक पहुंच जाता है तब कानून के लम्बे हाथ उसे पकड़ पाते हैं, ''काश! कानून के हाथ इतने लंबे नहीं होते, छोटे किन्तु मजबूत होते, ताकि अपने आसपास छिपे अपराधियों तक भी पहुंच सकते।''

कुछ फ़िल्मी कमाल

दुनिया को बने हुए हजारों साल हो गए। इन हजारों सालों में दुनिया कुल जमा सात अजूबे दे सकी। फ़िल्मी दुनिया ने सिर्फ सौ साल में दुनिया के सात अजूबों का रिकार्ड तोड़ दिया और आठवां अजूबा दिया 'धर्मवीर' की जोड़ी। आज कुछ फ़िल्मी अजूबे, कुछ फ़िल्मी कमाल याद करें -

भेस बदलना

सड़क पर कोई जा रहा हो तो जान-पहचान वाला आदमी उसकी पीठ देखकर पहचान लेता है कि वह रमेश है या सुरेश है, लेकिन फ़िल्मों में जब नायक भेस बदलता है तो उसका सगा बाप उसे पहचान नहीं सकता, चेहरे पर तो चलो दाढ़ी लगी है, लेकिन आवाज से भी नहीं पहचानता? पर्दे से दूर, हॉल में बैठा दर्शक उसे पहचान लेता है, लेकिन उसे जन्म देने वाली मां नहीं पहचान सकती।

''वाह, कमाल है! क्या भेस बदलते हो? लगे रहो, दर्शक की दुआएं तुम्हारे साथ हैं। तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।''

खीर का स्वाद पहचानना

किसी फ़िल्म में नायिका अपना घर छोड़ कर चली जाती है और किसी दूसरे घर में आसरा पाती है। दो साल बाद नायक भटकता हुआ उसी घर में आता है। अब नायिका जो खीर बनाएगी, उसे नायक चखते ही पहचान जाएगा कि यह खीर किसने बनाई है। वही चावल, वही शक्कर, वही इलायची और वही दूध, जिससे हजारों सालों से खीर बनती आई है, मगर स्वाद अलग।

कुत्ते में सूंघने की जबरदस्त शक्ति होती है, वह सूंघकर खीर बनाने वाली तक पहुंच सकता है, लेकिन सिर्फ खीर खाकर कुत्ता भी नहीं पहचान सकता कि खीर किसने बनाई है। माना कि नायक सर्वशक्तिमान होता है, पर यार तुमने तो कुत्ते को भी मात दे दी।

चावल, दूध, शक्कर और इलायची से करोड़ों कटोरियां खीर बनती है। उसमें से नायिका के हाथ से बनी खीर नायक तुरंत पहचान लेता है, यह है सब कमालों का बाप।

आवाज किस दिशा से आ रही है

एक सुनसान जगह पर नायिका गाना गा रही है और नायक उसे फॉलो कर रहा है, लेकिन उसे पकड़ नहीं पा रहा, क्योंकि उसे पता ही नहीं चलता कि आवाज किस दिशा से आ रही है। एक छोटे बच्चे को भी आवाज दो तो वह आवाज की दिशा में झट से मुड़ता है, लेकिन नायक बरसात में भीगे उल्लू की तरह कभी दाएं देखता है, कभी बाएं देखता है।

यहां नायक के नायक होने पर शक होता है, बीस-बीस दुश्मनों से अकेला लड़ लेता है, पहाड़ पर चढ़ जाता है, समन्दर में उतर जाता है, लेकिन नायिका की आवाज किस दिशा से आ

रही है, यह उसे पता नहीं चलता।

फ़िल्मी गोली

आजकल फ़िल्मों में कदम-कदम पर गोलियां चलती हैं। हिन्दुस्तान की फ़िल्मों में जितनी गोलियां नायक पर चली हैं, उतनी गोलियों से एक वर्ल्ड वार जीता जा सकता है, लेकिन एक नायक को नहीं मारा जा सकता।

फ़िल्मों में चली गोलियों का अपना एक कैरेक्टर होता है, अपना खुद का मूड होता है। एक ही कंपनी में बनी और एक ही बंदूक से निकली गोली अगर खलनायक को मारी जाएगी तो वह उसी पल 'टें' बोल जाएगा और वही गोली नायक की तरफ चलेगी तो उसके कान के पास से निकल जाएगी। नायक से गोली भी डरती है। नायक कभी नहीं मरता, वह अमर है।

और अगर गोली लग भी जाए तो नायक के सारे डायलॉग बोलने तक असर नहीं करेगी, फिर अगर नायक को मरना भी पड़ा तो वह अपनी मर्जी से मरेगा, गोली से नहीं।

टोपी, कोट या गिलास फेंकना

नायक जब अच्छे मूड में होता है तो कुछ-न-कुछ फेंकता रहता है। अगर वह टोपी पहने है तो टोपी फेंकेगा, अगर वह जैकेट पहने हुए है तो जैकेट फेंकेगा, अगर ये दोनों ही नहीं हुए तो क्या फेंकेगा? यह अब तक पता नहीं चला है, क्योंकि नायक जब भी अच्छे मूड में होता है तो वह टोपी या जैकेट पहने रहता है ताकि उसे फेंक सके, फिर जाकर उसे उठाता भी नहीं, फेंकी हुई चीज उठा ली तो फिर वह नायक ही क्या हुआ।

शराब की पार्टी में नायक शराब का खाली गिलास पीछे की तरफ फेंकता है। किसी को लग-वग जाएगा, इसकी परवाह वह नहीं करता, फिर भी नायक का फेंका हुआ गिलास आज तक किसी को लगा हो, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। इसे हम, पीछे खड़े आदमी की किस्मत अच्छी थी, ऐसा नहीं कह सकते। हम कहेंगे, यह नायक के गिलास फेंकने का कमाल था।

रामगढ़ के वासी और डाकू

जिस फ़िल्म में डाकू होंगे, उस फ़िल्म में एक रामगढ़ जरूर होगा और रामगढ़ में रामगढ़ के वासी होंगे। रामगढ़ के वासियों को सरदार के आदमी धमकी देते हैं और सरदार के आदमियों को रामगढ़ के वासी अनाज देते हैं। यानी डाकू और रामगढ़ के वासी 'एक दूजे के लिए' बने हैं।

कहते हैं, बारह साल में घूरे के भी दिन बदल जाते हैं, लेकिन पता नहीं रामगढ़ वासियों के दिन कब बदलेंगे? मुझे तो रामगढ़ वासियों से ज्यादा डाकुओं की अक्ल पर तरस आ रहा है। जिन रामगढ़ के वासियों की खुद की रोटी दाल मांग रही है, वे तुम को दाल कहां से देंगे? रामगढ़ के भरोसे डाकू बने हो तो फिर हो गया तुम्हारा गुजारा। कमाल हैं। डाकू और कमाल हैं रामगढ़ के वासी!

साथ नाचने वाली भीड़

नायक नाच रहा है, नायिका नाच रही है। इतने में क्या देखते हैं कि पचास-साठ लड़के-लड़कियां आए और साथ में नाचने लगे। कहां से आए? कौन हैं? यह तो बाद की बात है, लेकिन क्यों आए? बेचारे दोनों को थोड़ी देर के लिए एकान्त मिला है तो हंस-खेल लेने दो। तुम्हारा आकर साथ में नाचना ज़रूरी है क्या?

मुझे लगता है, यहां हमारी फ़िल्मों ने राजनीति से प्रेरणा ली है। राजनीति में रैली होती है। रैली में जितनी ज्यादा भीड़ आती है, उतने ही नेता के हाथ मजबूत होते हैं। गाने में नायक-नायिका के साथ भी जितने ज्यादा लड़के-लड़कियां होते हैं, उतना ही उनका प्यार मजबूत होता होगा।

वैसे भी हमारे देश में निठल्लों की कमी तो है नहीं, दूसरे के फटे में अपनी टांग अड़ाने की पुरानी आदत है लेकिन प्यार को भी भीड़ का समर्थन मिलने लगा है, यह कमाल है।

याद्दाश्त जाना और आना

हमारा नायक अपने मजबूत शरीर पर कई वार झेल सकता है, लेकिन उसके खोपड़े पर जरा-सी चोट लगने पर वह अपनी याद्दाश्त खो बैठता है। वह सब कुछ भूल जाता है, सिर्फ गाना नहीं भूलता, फिर उसकी याद्दाश्त वापस लाने के लिए उसी वजन की चोट उसके खोपड़े पर पड़ना जरूरी है।

नायिका की याद्दाश्त दिल पर गहरा सदमा लगने से जाती है और फिर सदमा लगने से ही वापस आती है, लेकिन याद्दाश्त वापस आती जरूर है। फ़िल्म वाले याद्दाश्त वापस लाने के लिए और कोई तकनीक डेवलप नहीं कर पाए।

जब पता है कि नायक की याद्दाश्त खोपड़ी पर चोट पड़ने से और नायिका की याद्दाश्त सदमा लगने से ही वापस आने वाली है तो फिर देर किस बात की? मारो चोट और दो सदमा। इलाज में देरी क्यों करते हो?

कार के ब्रेक फेल होना

नायक के खिलाफ खलनायक द्वारा किए षड्यंत्रों की एक लंबी लिस्ट है। उनमें से एक षड्यंत्र है, नायक की कार के ब्रेक फेल कर देना। वह कार स्टार्ट करके रवाना होता है तब उसे पता नहीं चलता कि ब्रेक काम नहीं कर रहे हैं। गाड़ी शहर से निकाल कर वह सुनसान सड़क तक ले जाता है तब तक उसे पता नहीं चलता कि ब्रेक काम नहीं कर रहे हैं। अब किसी पहाड़ी की ढलान पर नायक को मालूम पड़ता है कि गाड़ी के ब्रेक फेल हो गए हैं।

खलनायक का काम है ब्रेक फेल कर देना। दुर्घटना के लिए पहाड़ी की ढलान खोजना खुद नायक का काम है। हेलीकॉप्टर से जंप लगाने वाला नायक न कार रोक पाता है और न चलती

कार से कूद पाता है, बचने की कोशिशों के बाद सीधा हॉस्पिटल में पड़ा मिलता है।

कपड़े बदल जाना

फ़िल्मों में कमालों का कमाल है नायक-नायिकाओं के कपड़े बदल जाना, खासकर नाच-गानों के दौरान वे इतने कपड़े बदलते हैं, जितने गिरगिट भी रंग नहीं बदलता। नायक ने लाल कपड़ों में आसमान की तरफ छलांग लगाई और जब वह वापस जमीन पर आया तो नीले रंग में था। कपड़े बदल गए, भैये! इतनी देर में आसमान में तुम्हारे कपड़े बदल कैसे गए?

चलो, कपड़े बदल गए यह छोड़ो, लेकिन इतना बता दो कि ज़रूरत क्या थी ड्रेस चेंज करने की। कहानी तो चेंज करते नहीं।

तुम्हारी फ़िल्म की कहानी तो वही बीस बार दोहराई हुई घिसी-पिटी है। उसको तो बदलते नहीं, ड्रेस पर ड्रेस चेंज किए जा रहे हो। ऐसा कब तक चलेगा?

* * *